शुभंकरी

(महाकाव्य)

महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया



कल्लाराम प्रकाशन

[illegible] बीकानेर (राज०)

ISBN 81-86842-44-6

संस्करण : प्रथम 1999

प्रकाशन : कलासन प्रकाशन
मॉडर्न मार्केट, बीकानेर (राज.)

लेजर प्रिंट : श्री करणी कम्प्यूटर एण्ड प्रिन्टर्स
गंगाशहर, बीकानेर (राज.)

मुद्रक : कल्याणी प्रिन्टर्स
माल गोदाम रोड, बीकानेर

मूल्य : 140/- रुपये

Subhnkari
(EPIC) by Mahopadhaya Manakchand Rampuria
Page : 160 Price : 140/-

समर्पणः-

उतरो माँ। जन-जन के मन में-
सद्-विचार बन आओ।
शुभ्र आचरण जगे मनुज में-
ऐसी ज्योति जगाओ।

ज्ञान-क्रिया-चारित्रय जगत का-
अमले। अमल बनाओ।
'शुभंकरी', लो माते। इस पर-
आशिष-कण बरसाओ।।

महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया

महोपाध्याय श्री माणकचन्द रामपुरिया
संक्षिप्त परिचय

महोपाध्याय श्री माणकचन्द रामपुरिया की साहित्य साधना विरल और अनुपम है। वे शब्द संसार के अखण्ड साधक हैं। रचना उनका धर्म है; मानवीय मूल्य उनके लिए दीप्तियाँ हैं और भारतीय संस्कृति उनके लिए प्रेरणा की अजस्र धारा है। उन्होंने काव्य की सभी धाराओं में रचना की- खण्ड काव्य, स्फुट काव्य और प्रबन्ध काव्य पर उनकी विशेष पहचान महाकाव्यों के महाकवि के रूप में रही है। 1955 से अपनी काव्य यात्रा को शुरू करके उन्होंने आज तक 67 काव्य कृतियों का सृजन किया है जिनमें 30 महाकाव्य, 33 स्फुट काव्य, 3 खण्ड काव्य तथा एक शोध प्रबन्ध सम्मिलित हैं।

शब्द साधना उनके लिए यज्ञ नहीं, एक महायज्ञ है। न तो उनकी कलम विराम लेती है और न उनकी मन की तरंगें। वे 'चरैवेति-चरैवेति' के उपासक हैं। प्रकृति की तरह उनकी कविताएँ भी प्रयोजनधर्मी हैं। प्रयोजन है; इंसान को और अच्छा इंसान कैसे बनाया जाए; उसके मन से कलुष को कैसे दूर किया जाए, मानव मूल्यों का परिरक्षण कैसे हो और सृष्टिक्रम में मनुष्य की महत्ता को कैसे कायम रखा जाए।

हिन्दी साहित्य के दिग्गज साहित्यकारों और समीक्षकों ने उनकी कविताओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित शिवपूजन सहाय, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा, सीताराम चतुर्वेदी, गोपालदास नीरज, अक्षयचंद्र शर्मा, कन्हैयालाल सेठिया और शंभूदयाल सक्सेना आदि सम्मिलित हैं। उनके काव्य की सराहना करने वाले और भी अनेक लोग हैं पर रामपुरियाजी का मूल लक्ष्य तो साधना है, सराहना नहीं। वे युग के काल पटल पर अपने शब्दों को अंकित करते चलते हैं; उनमें से कुछ शब्द तो कालजयी होंगे ही; बस इसी धुन में रचे जा रहे हैं- रचे जा रहे हैं। यह एक अखण्ड, अनथक यात्रा है जिसके पाथेय हैं शब्द और जिसका सम्बल है साधना।

पंडित शिवपूजन सहाय के अनुसार उनकी कृति (मधुज्वाल) "साहित्य के प्रखर प्रशस्त पथ का दीप स्तम्भ" है तो डॉ. नगेन्द्र का

मानना है कि "छंदों की नूतन योजनाएँ प्रस्तुत करने पर भी– मात्राओं, लय व गीत के बंधन कहीं शिथिल नहीं होते। छंदों में सर्वत्र सरल मृदुल गति है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 1963 में अभिमत व्यक्त किया था कि "रामपुरियाजी उत्साह परायण युवा कवि हैं।" डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार "उनकी कविताओं में एक संगीत है जो शब्दों की परिधि पार करके हृदय में गूंजता रहता है।" प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा उनमें "एक सिद्ध कवि की अंतःशक्ति" देखते हैं तो शंभुदयाल सक्सेना उनके काव्य में "नया स्वर, नई राग एवं नई आशा" को विद्यमान पाते हैं।

रामपुरियाजी ने महाकाव्यों की रचना में एक कीर्तिमान स्थापित किया है– संख्या की दृष्टि से भी और गुणवत्ता की दृष्टि से भी। वे निरंतर गतिशील हैं; निरंतर लिखते जा रहे हैं। बीसवीं शताब्दी को ऐसे वीतराग, अजातशत्रु और तपस्वी शब्द साधक पर गर्व है और होना भी चाहिए।

पवनपुरी, बीकानेर — भवानीशंकर व्यास 'विनोद'

आत्म कथ्य

शुभंकरी जगन्निवासिनी भगवती महालक्ष्मी के प्रति निवेदित मेरे हृदयोद्गार के ही अस्फुट छन्द हैं। इसमें परात्पर प्रभु की मातृ-रूपे शक्ति का अनन्त रूपों में वर्णन किया गया है। वेद-पुराण-उपनिषद प्रभृति सभी आर्ष ग्रन्थ मातृ-संवेदनशील-लीलाओं से भरे पड़े हैं। वस्तुतः यह आराधना की ही एक विधि है। सच्चिदान्द परात्पर ब्रह्म की मातृ-रूप में आराधना करना परम श्रेय माना गया है। यह आराधना कोई कल्पित आराधना नहीं है। इसमें अनन्त अद्भुत मातृ-शक्ति से सम्पन्न शुद्ध सच्चिदानन्दमय परात्पर तत्त्व ही प्रकट होते हैं। हर प्रकार से इसका विशेष महत्त्व है। कारण संतान के लिए माता ही सब से निकट और सहज स्नेह-द्रवित रहती है। कहा भी गया है-

"कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति।।"

इतना ही नहीं; यह भी कहा गया है-

अपराध परम्परा परं
न हि माता समुपेक्षते सुतम्।।

पुत्र कुपुत्र हो जाता है, किन्तु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। पुत्र के हर अपराध को माता क्षमा कर देती है। वह सदा वात्सल्य-सुधा-धारा से अपनी सन्तान के सर्वविधि उत्कर्ष और महिमा-मंडन हेतु उसे अभिषिक्त और सम्पुष्ट करती ही रहती है। ऐसी जगत-जननी माता की उपसना से समस्त विपदाओं का नाश, समस्त विघ्नों की निवृत्ति और सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति की सहज ही सम्प्राप्ति हो जाती है। मातृ उपसना के विविध रूपों में महालक्ष्मी परिगणित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उसी महालक्ष्मी के प्रति भावोद्गारों को सहज रूप में वाणी देने का नम्र प्रयास किया गया है।

मैंने अपने 'सोमवल्लरी' महाकाव्य में भगवती सरस्वती के विविध रूपों के एवं 'विश्वम्भरी' महाकाव्य में भगवती दुर्गा के विभिन्न श्री विग्रहों के आख्यान प्रस्तुत किये थे। उसी समय से

मेरे हृदय में यह भाव जाग रहा था कि महालक्ष्मी के प्रति भी इसी प्रकार का कोई ग्रन्थ निवेदित किया जाय। आज जगदम्बे लोककांता महालक्ष्मी ने ही मेरी यह अभिलाषा भी इस रूप में पूर्ण कर दी।

अन्त में भक्तों पर कृपा करनेवाली जगदम्बे, अखिल देवताओं से संपूजित देवेश्वरी, अनन्त गुणों की आश्रय-भूता दिकंबरी, शरणागतों पर अनुग्रह करनेवाली शाकंभरी माते 'महालक्ष्मी' को हृदय से नमस्कार करते हुए मैं अपने पाठकों से यही निवेदन करना अभीष्ट मानता हूँ कि यदि इस ग्रन्थ के द्वारा उनके हृदय को क्षण भर भी शान्ति मिली, तो मैं अपना परिश्रम सफल मानूँगा।

तथास्तु।

माणकचन्द रामपुरिया

प्रथम सर्ग

हे करुणामय ज्ञान निरामय।
कर दो गुरुवर। जग को निर्भय।।
तेरे चरण-कमल में आश्रित-
सृष्टि चराचर प्रतिपल भासित।

तेरा वन्दन हर क्षण करता-
जीवन का सूनापन भरता।
जहाँ कहीं भी घिरा अँधेरा-
मिला प्रकाश वहीं पर तेरा।

तेरी करूणा का पा सम्बल-
रहता आनन जग का उज्ज्वल।
हे गुरूवर। तू तत्त्व महत है,
सकल चराचर व्याप्त जगत है।

तू ही दृष्टि-सृष्टि है भव की-
कारण-शक्ति सृजन उद्‌भव की।
ज्ञान निरंजन तू ने देकर-
मातृ-रूप गोदी में लेकर-

जीवन पथ पर खड़ा किया है-
नर को सब से बड़ा किया है।
अगम अगोचर तक दिखलाया
मानवता का मान बढाया

तू ही नर है, नारायण है-
शक्ति-भक्ति कर्त्ता-कारण है।
पुरुष-रूप देवत्व समादृत-
शक्ति-स्वरूपे माते आदृत।

सरस्वती-लक्ष्मी तू काली
कर्त्ता-कारण-हरने वाली।
सभी रूप औ' सभी विभा में-
निर्विकार औ' भाव द्विभा में।

तू ही तू है जिसका वन्दन-
वेदों तक में है अभिनन्दन।
आज महालक्ष्मी बन तू ही-
खिले कमल-मन चम्पा जूही।

उतर देव अब, मातृ-शक्ति में-
शुद्ध-बुद्ध औ' भाव-भक्ति में।
तेरी करुणा का कण पाकर-
बने हृदय भावों का सागर।

देखूँ तुझ में ही वह लक्ष्मी-
अतल सिन्धु से जो है जनमी।
जय-जय गुरुवर। लक्ष्मी-रूपे।
निविड़ निशा में ज्योति स्वरूपे।

तेरे चरण-कमल का वन्दन-
करूँ अहर्निश मैं अभिनन्दन।
जिससे निर्मल मति-गति पाऊँ-
भव का जीवन सुखद बनाऊँ।

कर्त्ता-कर्म-करण-कारण है,
तू ही भव का अवधारण है।
तेरी महिमा प्रतिपल गाऊँ-
गा-गाकर मैं नहीं अघाऊँ।

जय माँ लक्ष्मी शक्ति दायिनी।
विमल हृदय नव भक्ति दायिनी।।
आद्या शक्ति सृष्टि की धृति है
त्रिगुणमयी तू मूल प्रकृति है।

जय-जय माते। जय जगदम्बे।
ब्रह्म-स्वरूपा नित्या अम्बे।
भव-रूज हारिणी। कष्ट निवारिणी।
सर्व सिद्धिमय विजय-कारिणी।।

माँ कल्याणी। सत्या चिन्मय।
मंगल-रूपिणि माते जय-जय।
जग-पूज्या तू बीज-स्वरूपा-
जय-जय जननी। शक्ति अनूपा।

मातृ-स्वरूपे गुरुवर। जय-जय-
चरण-शरण अब मिले निरामय।
जयति महालक्ष्मी की गाऊँ।
जड़ता-संभ्रम-मोह मिटाऊँ।।

तप-साधना-श्रम रूपिणि माता।
सादर पद पर शीश नवाता।।
आशिष दो, हो सफल मनोरथ-
गहूँ सदा शुभ जीवन का पथ।।

निखिल सृष्टि में तत्त्व पुरातन-
सत्य रूप है भाव सनातन।
अगजग उसके बन्धन में है,
मोह-शोक के क्रन्दन में है।

देव-दनुज औ' नर तीनों ही-
सत् से जब होते विद्रोही;
उनको सत्-पथ पर लाने को,
जीवन क्या हो? बतलाने को;

शाश्वत शक्ति-स्वरूप उतर कर-
परिवर्तित जग करती सत्वर।
वही पिण्ड, ब्रह्माण्ड बना है-
एक द्रव्य से द्रवित सना है;

यहाँ वहाँ सब एक तार है-
एक तरह की जीत हार है;
कुछ भी उससे भिन्न नहीं है-
कोई भी परिछिन्न नहीं है;

एक सूत्र मे सव हैं गुम्फित-
सभी उसी से हैं अनुरंजित;
मानव मन के विशद पटल पर-
उगते चित्र स्वतः रह-रह कर।

देव-दनुज सव एक रूप में-
मूर्त्तित होते छवि अनूप में;
स्वयं हृदय में देखे कोई-
विपुल भावनाएँ हैं सोई।

मंगल और अमंगल जगते-
एक दूसरे को सव ठगते;
अशुभ और शुभ जगकर प्रतिक्षण-
करते अन्तर-तर में ही रण।

शुभ जगता तव अशुभ भागता-
रूप अमंगल स्वयं त्यागता;
कहीं अशुभ जव विजयी होता-
होकर दुखित कहीं शुभ सोता;

देवासुर संग्राम यही है-
ध्वनित इसी से सकल मही है;
हर पल यह घटना घटती है-
जीवन की कड़ियाँ कटती है।

जीवन का परिव्याप्त चित्र है-
गाथा जिसकी सब विचित्र है;
द्वन्द्व भरे हैं जीवन के क्षण-
सुख-दुख के हैं नित परिरम्भण।

सुख में हर्ष स्वयं खिल पड़ता-
दुख में घिरती ही है जड़ता;
रुदन-हास का खेल निरन्तर-
चलता ही रहता जीवन भर।

इसी तरह शुभ और अशुभ का-
मुखड़ा रहता मन में दुबका;
जो विजयी जिस क्षण हो पाता-
वही वहाँ निज शौर्य दिखाता।

पाप-पुण्य की यही लड़ाई-
भू पर हर क्षण होती आई;
मन-मानस में इसी तरह के-
होते हैं रण मिलन-विरह के।

देव और दानव का यह रण-
झेल रहा नित मानव का मन;
कभी दनुज जव विजयी होता-
कष्ट-भार यह भूतल ढोता।

किन्तु जहाँ देवत्व हृदय का-
जीता, होता भाग्य हृदय का;
हिंसा-घृणा जहाँ जग जाए-
समझो दानव के दिन आए।



आज धरा का बुरा हाल है-
ताण्डव-रत ज्यों महाकाल है।
दम्भ-द्वेष सब ओर अड़ा है-
मृत्युमुखी नर विवश खड़ा है।

सभी ओर आतंकवाद का-
जोर बढ़ा है तम निनाद का;
हिंसा औ' व्यभिचार बढ़ा है-
सब के सिर पर रक्त चढ़ा है।

पाप और अन्याय नीति है-
लगता कर्कश टेर गीति है;
आज न कोई कहीं सुरक्षित-
दिखते जन-जन अपने भक्षित।

लूट-खसोट मची घर-घर में-
पाशविकता है नारी-नर में;
पुण्य-कर्म सब लुप्त हुए हैं-
सत्-पथ को विष-दंश छुए है।

अनाचार का शासन चलता–
चाँद धरा पर आग उगलता,
जिसे देखिए अकड़ रहा है।
अपने सब कुछ जकड़ रहा है।

स्वार्थ–लोभ–आडम्बर फैला–
जन–जन का मन ही है मैला;
कर्म अपावन नर अपनाते–
भक्षाभक्ष चाह कर खाते।

शास्त्र–न्याय की बात न चलती–
साधु–संत की दाल न गलती;
जिसकी लाठी भैंस उसी की–
सत्य आज यह उक्ति किसी की।

देश–राष्ट्र की बात कहाँ है?
अन्ध स्वार्थ सब ओर यहाँ है।
गहन तमिस्रा व्याप्त रही है–
उलटी गंगा–धार वही है।

नैतिकता की बात न पूछें–
कैसी काली रात न पूछें?
मानव का अन्तर है काला–
भटका राह दिखाने वाला।

चोरों और लुटेरों का ही-
शासन भू पर चलता शाही।
सिसक रही है भोली जनता-
त्राही-त्राही करती मानवता।

यह परिचायक है, जन-जन का-
दानव आज जगा है, मन का;
हारा है देवत्व हृदय का-
मानव के सौभाग्य उदय का।



त्रिभुवन की कल्याणी माते।
मानवता रक्षाणी माते।
पुनः धरा पर अम्वे आओ।
भटके जन को राह दिखाओ।

साधु-संत अगवानी करते-
चरण-कमल पर मस्तक धरते।
देवासुर-संग्राम छिड़ा फिर-
दानव से देवत्व भिड़ा फिर-

तुम्ही उवार सकोगी जग को-
बिंधे मनुजता के क्षत-पग को।
जय-जय लक्ष्मी माते, अम्वे।
कष्ट-निवारिणि माँ जगदम्वे।।

द्वितीय सर्ग

गहन तिमिर है, घटा घिरी है-
किस्मत सब की स्वयं फिरी है;
जहाँ शान्ति-सौभाग्य जगा था-
विमल प्रेम में हृदय पगा था।

करुणा की होती थी रिमझिम-
ज्योति नहीं थी कोई मद्धिम;
धरती मोद मनाती पल-पल-
अम्बर ज्योति लुटाता शीतल;

मन्द-मन्द मदमाता आता-
मलयानिल नव गंध लुटाता;
मुकुल-फूल की पैजनी बजती-
कली-कली की पँखुड़ी सजती।

भौंरे गुन-गुन गीत सुनाते-
मत्त राग में ही रम जाते;
सरस सुवास दिगन्त सुगन्धित-
अरुणाभा से कण-कण मंडित।

जहाँ कभी सौन्दर्य सुहावन-
प्रीत लुटाता था मनभावन;
वहाँ आज का यह परिवर्त्तन-
जगा रहा भीषण उत्पीड़न।

आज लौटरी का है स्वागत-
द्यूत-कर्म बना सुसंगत;
जगह-जगह पर भीड़ जमाते-
भाग्य सभी जन हैं अजमाते।

तन के कितने ही व्यापारी-
चला रहे धंधा व्यभिचारी;
जगह-जगह पर केन्द्र बने हैं-
कीच-मीच-रूज-पाप सने हैं।

जहाँ देखिए वहीं गिरावट-
गिरने की ही मिलती आहट;
एक हादसा-सा लगता है-
चारों ओर यहाँ जगता है।

नहीं किसी को चैन कहीं है-
जहाँ देखिए, काल वहीं है;
त्राहि-त्राहि का स्वर है गुंजित-
व्यक्ति-व्यक्ति है खण्डित-खण्डित।

बाहर से कुछ और दीखता-
भीतर से कुछ और सीखता;
जैसा जो है प्रकट न होता-
छद्म मुखौटा धड़ पर ढोता।

कहने को तो कुछ कहते हैं-
कर्म दूसरा ही करते हैं;
वचन-कर्म में मेल नहीं है-
सब के वश का खेल नहीं है।

कोई कहता कुछ है लेकिन-
करता स्वार्थ-भाव को गिन-गिन;
शोषित-पीड़ित की बातों को-
दुर्दिन की काली रातों को।

किसने देखा कौन मिटाया?
सब ने अपना नाम कमाया।
आज यही युग-धर्म बना है-
अपना पहला कर्म बना है।

बाद कहीं कुछ और चलेगा-
अपना तो सब काम बनेगा।
यह विडम्बना सभी जगह है-
रूप इसी का तरह-तरह है।

इससे कोई अलग नहीं है-
एक डाल पर विहग नहीं है;
अलग-अलग हैं खेमे सब के-
भिन्न कर्म हैं अपने ढब के।

कोई कुछ करतब दिखलाता-
कोई बातों से बहलाता;
किन्तु लक्ष्य है एक सभी का-
दूरागत है सत्य कभी का।

नैतिक मूल्य नहीं रह पाये-
सेवा के आदर्श भुलाये;
अब तो श्रेष्ठ वही है भव में-
जीवन के इस क्रम उद्भव में।

अपना लक्ष्य सिद्ध कर जाओ-
पहले अपना गेह सजाओ;
शेष बचे श्रम-साधन जितना-
कर्म भुवन का होगा उतना।

तथ्य यही अब सत्य बना है-
यही चँदोवा आज तना है;
सभी जगह औ' सभी वेश में-
सब प्राणी औ' सभी देश में-

आज अचानक ह्रास हुआ है-
सत्य-तत्त्व का नाश हुआ है;
सत्य सनातन रहता भू पर-
है परिवर्त्तन वहाँ न तिल भर।

किन्तु आज तो मिटनेवाला-
बना हृदय का है रखवाला;
तन मिटता पर यही प्रमुख है-
हृदय अलग है तन सम्मुख है।

तन क्षणभंगुर राज चलाता-
शाश्वत मन पर ध्यान न लाता;
मन आत्मा का रूप मनोहर-
यही सनातन है अभ्यंतर।

मोह और दृढ अहंकार से-
वेष्ठित है भंगुर विचार से;
यही दानवी शक्ति जगी है-
दैव-मूर्त्ति तो गयी ठगी है।

जिस दिन यह देवत्व जगेगा-
तन का चिन्तन नहीं रहेगा;
निर्विकार सब भाव जगेंगे-
अपना प्राप्य सभी जन लेंगे।

देवासुर का युद्ध यही है-
आज पराजित देव सही है;
लेकिन सब दिन एक न रहते-
एक तरह सब कष्ट न सहते।

सुरपति भी हारे थे बलि से-
अहंकार वश दानव छलि से;
महाशक्ति ने लेकिन जगकर-
विजय दिलाई उनको सत्वर;

आज पुनः अब वही समय है-
देव-तत्त्व का होता क्षय है;
महाशक्ति जय रूपिणि अम्बे।
जयति महालक्ष्मी जगदम्बे।

आओ पुनः धरा पर आओ-
देवों को जय-विजय दिलाओ।
पृथ्वी आज कराह रही है-
दिखती आगे राह नहीं है।

याद करो माँ, तुझ से जग कर-
सात्विक भाव जगे थे भू पर;
आज पुनः वह खेल रचाओ-
आओ, अम्बे भू पर आओ।

महा विपद में पड़ी धरा है-
पीड़ित शोषित वसुन्धरा है;
इस पर नव उजियाली लाओ-
उर्वरता हरियाली लाओ।।

तीसरा सर्ग

भिन्न रंग औ' भिन्न रूप में-
तू ही दिखती छवि अनूप में;
    जयति महालक्ष्मी। है तेरी-
    सकल सृष्टि माया ने घेरी।

इससे कुछ भी विलग नहीं है-
चेतन क्या? जड़ अलग नहीं है;
एक तत्त्व से सब हैं चालित-
चक्र-चलित-जीवन-परिचालित;

तू ही सत्य-असत्य बनी है-
ठोस-द्रव्य से स्वयं सनी है;
अच्छा और बुरा फिर कैसे?
सब में तू है स्पन्दन-जैसे।

पाप-पुण्य का नाम अलग है-
दोनों में ही एक सजग है;
और वही तू है जो सब में-
रूपायित है अखिल विभव में।

चाहे जो भी नाम-धाम हो-
रात्रि-दिवा या सुबह-शाम हो;
सब में तेरी प्रतिध्वनि गुंजित-
घट-घट में शशि एक सुबिम्बित।

इसीलिए कुछ भिन्न नहीं है-
पाप-पुण्य परिछिन्न नहीं है;
पुण्य-तुम्हारे, पाप तुम्हारे-
सभी तत्त्व हैं तुममें सारे।

इसीलिए जो तुझको भजते-
तेरे कीर्त्तन से मन सजते;
उनको सब कुछ अपने लगते-
रात-दिवस वे सुख से जगते।

सुख तुमने ही दिए हृदय पर-
दुख भी तेरा ही करुणा कर;
सुख भी तेरा, दुख भी तेरा-
कैसी फिर यह ज्योति-अँधेरा;

आज तुम्हीं ने विपद दिए हैं-
तेरे ही सब किए-धिए हैं;
'इसीलिए है तेरा वन्दन-
तेरे पद पर करता क्रन्दन।

तुझसे ही यह तिमिर कटेगा-
विपदाओं का मेरु हटेगा,
पुनः ज्योति जागेगी उज्ज्वल-
स्वतः खिलेंगे मन के शतदल;

किन्तु आज जग विलख रहा है-
सागर तक भी सूख रहा है;
तरु-तरु दिखते हैं मुरझाए-
जन-जन लगते हैं भरमाए।

दिशा-दिशा में धुंध घिरी है-
मन की कुचली शिखा गिरी है;
धुआँ उसी का फैल रहा है-
अन्धकार का स्रोत वहा है;

धरती क्षण-क्षण डोल रही है-
विषम दरारें खोल रही है;
सिकता कण का ढेर लगा है-
दिक्-दिक् में ज्यों काल खड़ा है।

धूल भरा तूफान लरजता-
फटकर ज्यों आकाश गरजता;
बहक हवा में जहर भरा है-
दिक्-दिगन्त तक डरा-डरा है।

साँस-साँस में भरा प्रदूषण-
अवगुण बना मनुज का भूषण;
जड़ता ही सब ओर बढ़ी है-
कुएँ में ही भंग पड़ी है।

अम्बे! तू ही, राह दिखा दे-
फिर से बुझती जगा शिखा दे;
तिमिर दृष्टि का तनिक हटा दे-
मन का संभ्रम-बन्ध मिटा दे।

जड़ता-जाड़-विषमता भागे-
कलुष भाव अन्तर-तर त्यागे;
कटे सकल जीवन के बन्धन-
रुके विकल प्राणों के क्रन्दन।

आज सृष्टि है शीश झुकाए-
मानवता को कौन बचाए?
अवगुण फैला आज मही पर-
गुणवत्ता है मौन कहीं पर।

इसको उद्भव दान चाहिए-
जीवन का सम्मान चाहिए;
आओ माते, ज्योति जगा दो-
गहन तमिस्रा-दोष मिटा दो।

भूतल फिर नन्दन बन जाए-
खुद मानव सत्-पथ अपनाए;
रहे न पीड़ा, मन-उत्पीड़न-
बने सुखद इस भू का जीवन।

जय-जय माते, सृष्टि धारिणि।
जग-जीवन की तरण-तारिणि।
भव उद्‌भव की करण-कारिणि।
जन-मन के सब कष्ट-निवारिणि।।

चौथा सर्ग

अहंकार औ' पाप-कर्म जब-
अन्तर-तर में जगते;
बुद्धि भ्रष्ट हो जाती, सब जन-
अशुभ कर्म में लगते।

कोई भी कुछ काम न आता
मन कुंठित हो जाता;
प्राप्त सभी ऐश्वर्य अचानक
पलभर में खो जाता।

देवों में भी अहंकार जब
जागा, वे भरमाए;
क्षण भर में ही देव-लोक के
साधन स्वतः गँवाए।

दैत्य निरंतर चढ आते थे
देव-लोक के ऊपर;
किन्तु लौट जाते थे तत्क्षण
सब परास्त ही होकर।

देवों का बल बढा-चढा था
सत्य कीर्त्ति थी उनमें
पुण्य-कर्म की ज्योति जगी थी
उनकी पावन धुन में।

जब तक उनमें सत्य जगा था-
न्याय-नीति पर चलते;
सदा सभी के हित साधन में-
रहते सदा मचलते।

याग-यज्ञ औ' तप-आराधन-
में ही हृदय रमाते;
हो जिससे कल्याण भुवन का-
वैसा धर्म निभाते।

मोद मनाते रहते थे वे-
यश के बनकर भागी,
कीर्त्ति कमाते रहकर प्रतिक्षण।
जीवन के अनुरागी।

नन्दन-वन में हृदय रमाते-
गीत मनोरम गा के,
करते सदा विहार रहे वे-
यौवन अक्षय पा के।

कल्पवृक्ष की छाया में ही-
अपना समय बिताते;
लावण्यमयी रमणी के संग ही-
प्रतिदिन मोद मनाते।

रम्भा ओ' उर्वशी साथ थी-
यौवन की फुलवारी;
पास अप्सराएँ रहती थी-
मृगनयनी सुकुमारी।

फिर क्या था? बस, काम-भाव में-
देव सभी थे रहते,
केवल सुख का भार हृदय पर-
सभी देवता सहते।

देव-लोक में रंचमात्र भी-
दुःख नहीं रह पाता;
इसीलिए मादकता में मन-
देवों का भरमाता।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश देखते-
उनकी सारी लीला;
सब कर्त्तव्य-भाव से गिरकर-
होते पंक-पनीला।

ब्रह्मा औ' शंकर ने चाहा-
कुछ सचेत हम कर दें;
उनके अन्तर-मन में जाग्रत-
भाव-कर्म का भर दें।

किन्तु वहाँ देवों में तो था-
भाव अहं का जागा;
इसीलिए उन लोगों ने-
कर्त्तव्य-ज्ञान था त्यागा।

अहंकार जब जगता, होती-
बुद्धि भ्रष्ट तब पहले;
देव-दैत्य या नर में क्या जो-
उसको क्षणभर सहले।

मद से घूर्ण सत्य की आहट-
सुन न सके अभिमानी;
अहंकार में भूल गए वे-
अपनी राह पुरानी।

फिर तो होनी हुई वही, जो-
ऐसों की गति होती;
कर न सके कुछ, उनकी किस्मत-
रही स्वयं ही रोती।

दैत्यों ने देखा- अब उनमें-
अहंकार हैं जागे;
परम शान्ति औ' देव तत्त्व के-
सारे गुण हैं भागे।

समझ गए सब- देवों से वे-
हार नहीं अब सकते;
देर नहीं अब होगी उनको-
अपने वश में करते।

अहंकार का नशा चढ़ा है-
श्रम को त्याग दिया है;
भोग, ह्रास की जननी को ही-
सब कुछ मान लिया है।

शुक्राचार्य स्वयं थे बोले-
दैत्यों को समझाकर;
देव-लोक पर करो चढ़ाई-
मंगलमय क्षण पाकर।

हुआ वही जो होना था सब-
देव स्वर्ग से भागे;
भिन्न-भिन्न लोकों में आए-
बनकर दीन-अभागे।

देवपुरी पर दैत्य बलि ने-
अपना राज जमाया;
देवों का देवत्व छीन कर-
अपना यश फैलाया।



यही सत्य है, जिसने अपना-
धर्म हृदय से छोड़ा;
श्रम की विमल साधना से है-
जिसने भी मुँह मोड़ा।

वह तो कालचक्र में पड़कर-
निश्चय ही मिट जाता;
ऐसे प्राणी को इस भू पर-
कोई बचा न पाता।

स्वयं महालक्ष्मी की होती-
जब अनुकम्पा उन पर;
तभी पुनः वे विजयी होते-
अपनी शक्ति सँजोकर।

इसीलिए उस मातृ देवि का-
करते सब अभिनन्दन;
ग्रहण करो हे जगन्निवासिनी।
जन-मानस का वन्दन।।

पाँचवा सर्ग

विजय प्राप्त कर दैत्य चैन से-
अपना समय बिताते;
किसी तरह के कोई भी भय-
उनको नहीं सताते।

शुक्राचार्य मिले थे गुरुवर-
ज्ञानी और तपस्वी;
सभी तरह के योग-क्षेम के-
ज्ञाता परम मनस्वी।

दैत्य-राज को सुदृढ़ बना कर-
चले तपस्या करने;
उनके हित अपने अन्तर में-
ज्योति अखण्डित भरने।

चाह रहे थे शंकर से वे-
ऐसा वर ले आएँ;
जिससे दैत्य कहीं त्रिभुवन में-
नहीं पराजय पाएँ।

शुक्राचार्य गए हैं वन में-
सुरपति ने जब जाना;
कहा वृहस्पति से ही-गुरुवर-
है अब काम बनाना।

आप स्वयं दानव-गुरु बनकर-
दैत्यों को समझाएँ;
ऐसा पाठ पढ़ाएँ, वे सब-
हम से जीत न पाएँ।

देवों के गुरु शुक्र-वेश में-
दानव-दल में आए;
बड़े जतन से उनकी मति में-
यज्ञ-केतु फहराए।

दैत्यों ने देखा, गुरुवर हैं-
श्रद्धा उनमें जागी;
पता नहीं था उन्हें कि उनके-
गुरु हैं तप अनुरागी।

इन्हें मान गुरु शुक्र, लगे वे-
तप साधन में रमने;
जो भी गुरुवर कहते उसको-
आदर पूर्वक करने।

दैत्यों का सब कर्म भेद कर-
उलटी रीति सिखाई;
हुए विरत सब स्वधर्म से ही-
ऐसी युक्ति बताई।

जो भी विरत धर्म से होता-
अपने मुँह की खाता;
ऐसे प्राणी को फिर कोई-
बचा नहीं है पाता।

सुर-गुरू ने जब दैत्यों में था-
देव-धर्म पनपाया;
हट कर फिर स्वाभाविक गति से-
उनका मन भरमाया।

जप-तप-होम लगे सब करने-
सात्यिकता अपना कर;
पूजन-अर्चन लगे सुनाने-
जीवन का गुण गा कर।

दैत्य-दैत्य अब नहीं रहे थे-
सुर-गुण उनमें जागे;
निन्दक कह कर दानव-गण ने-
दैत्य-कर्म सब त्यागे।

अपना धर्म त्याग कर जब वे-
अपर धर्म में आए;
उनके अपने सहज कर्म भी-
साथ नहीं रह पाए।

अपने सहज धर्म से विच्युत-
स्वयं भ्रष्ट हो जाते;
ऐसे प्राणी ही जीवन में-
सब कुछ स्वतः गँवाते।

दैत्य-गणों को प्राप्य हुआ था-
जीवन का सुख सारा;
किन्तु भविष्यत् ने लोभी वन-
रूप सजाया न्यारा।

लगे सोचने राज्य अचल अव-
कैसे हो निष्कंटक,
कभी नहीं भयभीत बनाए-
सम्मुख आकर अंतक।

जो भी संकट आए वह सव-
अपने ही मिट जाए;
उन्हें छोड़ कर स्वर्ग पुरी में-
कोई कभी न आए।

अजर-अमर अक्षीण रहें वे-
यौवन में मदमाते;
अक्षय अक्षरमयी कला से-
अपना मन बहलाते।

रूपमयी ललनाओं के कर-
मदिरा उन्हें पिलाए;
मिटे खुमारी कभी न जिसकी-
वह मादकता छाए।

लोभ-मोह जब बढ़ता, प्राणी-
निकट नाश के आता;
एक-एक कर नीचे-नीचे-
गिरता ही वह जाता।

और पुनः जब धर्म-विरत हो-
भटके अपने पथ से;
तब वह खुद ही कट जाता है;
अपने ही इति-अथ से।



दैत्य स्वयं जब भटक गए, तब-
बदला उनका जीवन;
भूल गए वे सहज शौर्यमय-
अपना लक्ष्य पुरातन।

भटके जन में खुद आ जाती-
जीवन की दुर्बलता;
संयम का सब बाँध तोड़कर-
जगती उच्छृंखलता।

यही हुआ अब दैत्यों का था-
लक्ष्य नहीं रह पाया;
लगे भटकने नन्दन-वन में-
लेकर मन भरमाया।



सुरपति के दूतों ने आकर-
सब कुछ उन्हें बताया,
कहा कि उनमें अब पहले-सा-
तेज नहीं रह पाया।

भरम गए हैं सब अनजाने-
उनमें शक्ति नहीं है;
दैत्य-गणों में अपनों के प्रति-
कोई भक्ति नहीं है।

उनका वह विश्वास पुरातन-
उखड़ गया है ऐसे;
सजा काँच का वर्त्तन कोई-
गिर कर टूटे जैसे।

शुक्राचार्य अभी पर कुछ दिन-
और अलग रह पाएँ;
तो फिर निश्चय काम हमारे-
सभी सिद्ध हो जाएँ।

सुनकर सुरपति बोले- ठहरो-
यही उपाय करूँगा;
घोर विपिन से दैत्यपुरी में-
उन्हें न आने दूँगा।

  

इन्द्र महालक्ष्मी के सम्मुख-
बोले शीश नवाकर;
माते, मुझ पर दया करो अब-
अपना मुझे बनाकर।

कोई उक्ति बताओ ऐसी-
जिससे हम जय पाएँ;
अपना खोया देव-लोक हम-
कैसे फिर पा जाएँ?

कहा महालक्ष्मी ने- जाओ-
समय साथ है तेरे;
दैत्य-गणों को स्वयं काल ने-
अभी रखा है घेरे।

अपनी सुता जयन्ती को तुम-
वन-प्रदेश ले जाओ;
बने शुक्र की परिणीता वह-
उसको यह समझाओ।

शुक्रदेव जब उसके वश में-
हो जाएँगे अपने;
तभी तुम्हारे पूरे होंगे-
मन के सारे सपने।

✦ ✦ ✦

जयति महालक्ष्मी की कह कर-
सुरपति लौटे घर में,
जय-जय अम्बे। लगे सुनाने-
अपने निर्मल स्वर में।।

छठा सर्ग

मन से हो आश्वस्त इन्द्र ने-
परम शान्ति थी पाई;
आगे के कर्त्तव्य-ज्ञान से-
आभा नूतन छाई।

अपनी सुता जयन्ती को फिर-
अपने पास बुलाया;
शान्त हृदय से उसको अपना-
अभिमत सहज सुनाया।

कहा कि शुक्राचार्य धरा पर-
तपोनिष्ठ हैं प्राणी;
उनके जैसा नहीं कहीं भी-
विद्या-वारिधि-ज्ञानी।

महामनस्वी योग-क्षेम के-
वे हैं अद्‌भुत ज्ञाता;
भौतिक औ' परमारथ सुख के-
वे हैं निपुण प्रदाता।

उनके जैसा कहीं दूसरा-
व्यक्ति नहीं मिल सकता;
उनसे ही सात्विक जीवन का-
शुभ्र सुमन खिल सकता।

हस्तामलक उन्हें है सब कुछ-
सभी तत्त्व की विद्या;
उनके वश में सभी तरह की-
आज शक्ति है दिव्या।

सकल सिद्धियाँ हाथ जोड़कर-
उनके सम्मुख रहतीं;
हवा और सब नदियाँ उनके-
इंगित पर ही बहतीं।

सकल सुमेरु और हिम-पर्वत-
उनको शीश नवाते;
सभी विघ्न-बाधाएँ हटती-
जहाँ-जहाँ वे जाते।

ऋषि-मुनि-देव-असुरजन सारे-
उनके पद पर झुकते;
स्वयं काल के सिद्ध चक्र तक-
उनके आगे रुकते।

कोई उनसे श्रेष्ठ नहीं है-
आज कहीं अग-जग में;
सृष्टि चराचर झुका हुआ है-
उनके पावन पग में।

उनसे सभी मनोवांछित फल-
पाने को ललचाते;
असुरों के हैं गुरु, देव पर-
सादर शीश नवाते।

आज कठिन व्रत-लीन हुए हैं-
धर्म-व्रती-अधिकारी;
घोर तपस्या में तपते हैं-
वही पुरुष अवतारी।

उसी पुरुष की तुम्हें बनायी-
मैंने शुभ परिणीता;
वहीं मिलेगा तुम्हें सभी सुख-
शान्ति-मोद मनचीता।

जाओ, देखो महा तपस्वी-
कैसा तप हैं करते;
महाशून्य को अन्तर-तर के-
किस निनाद से भरते।

ब्रह्मलीन वे ब्रह्म रूप हैं-
ब्रह्म उन्हीं में रहते;
उनके रोम-रोम तक अविरल-
ब्रह्म शब्द-ध्वनि कहते।

वन-प्रदेश में वे रहते हैं-
सबकी दृष्टि बचा के;
असुरों में वह शक्ति नहीं जो-
देखें उनको जा के।

असुरों के हैं गुरू, किन्तु वे-
सुर-विद्या-व्रत-धारी;
उनके आगे आचार्यों की-
कुंठित है आचारी।

कहा जयन्ती ने तब उनसे-
अपना शीश झुकाकर;
पिता देव जैसी जो आज्ञा-
मान्य मुझे है सादर।

माता और पिता की होती-
कन्या पुण्य धरोहर;
वे ही उसके सब भविष्य का-
करते निर्णय सत्वर।

अतः आपने जो भी निर्णय-
लिया वही है उत्तम;
उससे भिन्न नहीं कुछ मेरा-
जीवन का व्रत-सत्यम्।

देवपुरी की मैं कन्या हूँ-
देव-गुणों से भूषित;
कभी आचरण नहीं करूँगी-
किसी तरह भी दूषित।

माता और पिता से मुझको-
अनुपम ज्ञान मिला है;
उनकी विमल छत्रछाया में-
अन्तर सुमन खिला है।

ज्ञात मुझे कर्त्तव्य-ज्ञान है-
मन से उसे करूँगी;
अपने पति की चरण-धूलि को-
सिर पर रोज धरूँगी।

वही करूँगी जिससे उनको-
कष्ट न होने पाये;
सदा रखूँगी उन्हें प्रेम की-
मन में जोत जगाये।

वर्षा-हिम आतप से उनकी-
रक्षा सदा करूँगी;
सुबह-शाम उनके चरणों पर-
मस्तक रोज धरूँगी।

देवपुरी की शिक्षा-दीक्षा-
के अनुरूप रहूँगी;
उनके जीवन के सुख-दुख का-
झोंका विहँस सहूँगी।



सुनकर सुरपति बोले- सचमुच-
तुझ पर हूँ बलिहारी;
आज धन्य मैं, मुझे मिली जो-
तुम-सी कन्या प्यारी।

जाओ स्वयं महालक्ष्मी ही-
सब कल्याण करेंगी;
वे ही तेरे शुभ भविष्य का-
पथ प्रशस्त कर देंगी।

✦ ✦ ✦

जय-जय माते। विभव दायिनी-
दया करो जन-जन पर;
पीड़ित-शापित मानवता पर-
दुख से क्षुब्ध भुवन पर।

सातवाँ सर्ग

तपः लीन थे शुक्रदेव जब-
विमल जयन्ती आई;
उनकी सेवा में हो तत्पर-
तृप्ति हृदय में पाई।

ऋषिवर की जो रही जरूरत-
झटपट पूरा करती;
मोद-मग्न हो प्रतिक्षण उनकी-
सेवा में रत रहती।

धूम्र-पान जब करते ऋषिवर-
शीतलता वह देती;
केले के पत्ते से उनकी-
श्रान्ति तुरत हर लेती।

यही पत्र छाया भी करता-
धूप न देता लगने;
कभी नहीं शैथिल्य अपावन-
उनमें देती जगने।

समिधा के हित लकड़ी लाती-
अग्नि स्वयं सुलगाती;
यज्ञ कुण्ड को वस्तु अपावन-
से वह सदा बचाती।

पास कमण्डल में गंगा का-
जल ला-ला कर भरती;
परम साध्वी रूप जगाए-
प्रतिपल सेवा करती।

दोपहरी में सीधे सिर पर-
जब दिनकर थे आते;
अपने आतप से उत्पीड़ित-
जन-जन को कर जाते।

तब वह एक वस्त्र से उनके-
ऊपर छाया करती;
ऋषिवर की सुख-सुविधा में ही-
हृदय लगाए रहती।

जैसे होता प्रकृति जनित सब-
उनका श्रम हर लेती;
उनके तन पर गर्म हवा या-
धूप न लगने देती।

कभी जोर की आँधी आती-
उससे उन्हें बचाती;
उनकी पूजा की सामग्री-
कभी न डुलने पाती।

रजनी घिरती तब भी वह नित-
पास उन्हीं के रहती;
वह भी उनकी सेवा के तप-
से ही निज तन कसती।

चुन-चुन कर वह फूल तोड़ती-
ऋषि के आगे धरती;
जंगल से ही कुशा-पवित्री-
उपले लाया करती।

ऋषिवर कुछ आराम करें इस-
हेतु सजाती भूतल;
स्वयं बिछाती झाड़-पोंछ कर-
पल्लव कोमल-कोमल।

ऋषिवर के सोने पर अपने-
हाथों व्यजन डुलाती;
पूरा देती ध्यान कि जिससे-
निद्रा उचट न पाती।

पातिव्रत-सेवा में प्रतिपल-
रहती वह संलग्ना;
चिन्ता कभी न करती कोई-
रहती प्रेम-सुमग्ना।

किसी तरह की काम-वासना-
कभी नहीं दर्शाती;
किसी तरह की विकृति उसके-
तन पर कभी न आती।

इन्द्रिय जीता बनकर अविरल–
सेवा करती रहती;
उसके तन पर कभी काम की–
रेखा नहीं उभरती।

निर्विकार मन से वह अपना–
साधन सकल जुटाती;
किसी प्रवंचक भाव-भूमि पर–
मन को नहीं लगाती।

शुक्रदेव के अन्तर-तर में–
कभी विकार न आया;
उनके मन में भी साधन का–
ही था भाव समाया।

सदा लीन थे, सुरति तपस्या–
ही था लक्ष्य-सहारा;
उनके आगे ज्ञान-ज्योति का–
फैला था उजियारा।

निर्विकार थी दृष्टि हृदय में–
ज्योति अखंड जगी थी;
एकमात्र ध्रुव-लक्ष्य वही था–
जिस पर दृष्टि लगी थी।

किसी तरह मन-मादक छवि पर-
ध्यान न उनका जाता;
उनके सम्मुख कलुष काम का-
कभी न आने पाता।

सेवा-तत्पर रही जयन्ती-
किन्तु न मुनि ने देखा;
मन से कभी न उसके तन का-
लिया कभी कुछ लेखा।

रूपवती लावण्यमयी थी-
बड़े सुदर्शक दृग थे;
गोरी चंचल छरहर वदना-
पाँव सुकोमल मृग थे।

कटि थी सिंहों-जैसी पतली-
चारु चन्द्र था आनन;
बरबस चित्त खींच लेता था-
आँखों का मृदु अंजन।

मुनिवर फिर भी विरत-विरत थे-
अपनी धुन में अविचल;
शान्त भाव वह बाला भी थी-
फूलों में ज्यों परिमल।

दोनों में कोई भी पलभर-
पथ से कभी न हटते;
इसी तरह समभाव रूप में-
उनके दिन थे कटते।

जब भी यौवन चढ़ता उसमें-
भाव काम का जगता;
इंधन में ज्यों वह्नि समाकर-
अपने आप सुलगता।

किन्तु यहाँ पर काम शान्त था-
पुण्य भाव थे ऊपर;
शाश्वत सत्य लक्ष्य था उनका-
सर्वबोध में तत्पर।

दोनों ही थे एक तुला पर-
तनिक न कोई कम थे;
दोनों की ही दृष्टि विमल थी-
कहीं न भ्रम-संभ्रम थे।



जयति महालक्ष्मी तू जिसको-
शक्ति अपरिमित देती;
सकल वासनाओं की माया-
उससे माँ, हर लेती।

जय-जय माते जय जगदम्बे-
तेरी अद्भुत माया;
ऋषि-मुनि का भी तेरे सम्मुख-
कभी न चलने पाया।

जयति महालक्ष्मी हम सब जन-
तुझको शीश नवाते;
अपने भाव-सुमंगल अंजलि-
भर कर तुझे चढ़ाते।।

आठवाँ सर्ग

आप्त काम जब शुक्र हुए तब–
लाली अद्‌भुत छाई;
चमक उठी उनके आनन पर–
जीवन की अरुणाई।

दिशा-दिशा में लगा नाचने-
स्वर्णिम रूप उतर कर;
भूतल-अम्बर पर लहरायी-
सुषमा अतुल उभर कर।

दिग्-वधुएँ सब नृत्य निरत थी-
मंद-मंद मुस्काती;
एक अलौकिक विभा विछी थी-
दृष्टि जहाँ भी जाती।

कण-कण तक रस-सिक्त हुआ था-
छाई नव हरियाली;
दूर क्षितिज तक छिटक रही थी-
छवि मन-हरनेवाली।

डाल-डाल पर फूल अनोखे-
खिल कर खुद लहराये;
अलियों ने कलियों के कानों-
में नव गीत सुनाये।

मादकता थी, किन्तु वासना-
नहीं काम की आई;
शैशव-आभा की शोभा-सी-
खिली सृष्टि-निपुणाई।

शुक्रदेव आसन पर अपने-
बैठे ध्यान लगाए;
सहसा उनके सम्मुख शंकर-
चन्द्रचूड़ खुद आए।

आकर बोले- ऋषिवर, देखो-
प्राप्य तत्त्व सब तुमको;
कोई मिटा नहीं सकता है-
तेरे यश-कुंकुम को।

जब तक सृष्टि रहेगी तब तक-
तेरी कीर्त्ति चलेगी;
तेरे साधन श्रम से सारी-
दुनिया शिक्षा लेगी।

कोई शस्त्र न मार सकेगा-
कभी तुम्हें इस भू पर;
नहीं चलेगा कभी किसी का-
वश भी तेरे ऊपर।

जो चाहोगे, वैसा ही सब-
काम भुवन में होगा;
स्वयं सिद्ध सब भाव रहेगा-
जैसा मन में होगा।

सब प्राणी में ही प्रधानता-
होगी सदा तुम्हारी;
तेरे वश में सदा रहेगी-
जग की विभुता सारी।

इतना वर दें औढर शंकर-
अन्तर्धान हुए थे;
लगा शुक्र को ज्योतिर्कण ने-
उनको विमल छुए थे।

परम तेज की अद्भुत आभा-
रोम-रोम में छाई;
एक अपूर्व उमंग, हृदय में-
भीतर तक लहराई।

आँख खोल कर देखा सम्मुख-
एक सुन्दरी बाला;
बना रही थी सात्विक सेवा-
से जग को मतवाला।

रूपमयी-लावण्यमयी वह-
रूप अनिंदित धर कर;
वन-प्रदेश के कण-कण पर वह-
विहँस रही थी सत्वर।

ऋषिवर बोले- कौन सुमुखि तुम-
वन में क्योंकर आई;
विचर रही क्यों वन-प्रांतर में-
मेरी बन परिछाईं।

कहा जयन्ती ने- ऋषि, मैं हूँ-
इन्द्रराज की कन्या;
तुम्हें वरण कर पति-स्वरूप में-
स्वयं हुई हूँ धन्या।

मेरे पिता इन्द्र ने मुझ को-
आप तलक भिजवाया;
उनकी आज्ञा से ही मैंने-
परम योग्य पति पाया।

मेरा व्रत है सेवा करना-
आप न कष्ट उठाएँ;
जैसी रहे जरूरत जब भी-
मुझको तुरत बताएँ।

किसी काम में क्षण भर देरी-
कभी न होने दूँगी;
सभी तरह का भार स्वयं ही-
अपने ऊपर लूँगी।

मेरी केवल चाह यही है-
ऋषिवर खुशी मनाएँ;
सदा प्रसन्न रहें इस भू पर-
सब को सुखी बनाएँ।

पति की खुशी, खुशी है मेरी-
आप यही बस मानें;
अपने मन में मुझे बिठाकर-
भाव हृदय का जानें।

मैं पत्नी, पति आप स्वयं हैं-
हम में भेद नहीं है;
भौतिकता या किसी धरातल-
पर भी खेद नहीं है।

जैसी जो आज्ञा हो ऋषिवर-
मुझको अवगत कर दें;
अपनी ज्योति प्रभा से मेरे-
अन्तर-तार को भर दें।

ऋषिवर बोले- धन्य-धन्य तू-
देव-लोक की रमणी,
सचमुच तुम हो प्रभा समुज्ज्वल-
तिमिर-तोम-तम-हरणी।

तुझको पाकर लगता मैंने-
अपना सब कुछ पाया,
सूने गृह में तुझे बिठाकर-
निज सौभाग्य सजाया।

शुद्ध-बुद्ध तुम भौतिकता के-
भ्रम से ऊपर लगती;
परम शान्ति की शिखा तुम्हारे-
अन्तर-तर में जगती।

सात्विकता है सत्य, किन्तु हम-
भौतिकता क्यों त्यागें;
काया की सब भूख-प्यास को-
छोड़ कहाँ तक भागें।

जिसकी जो भी रही जरूरत-
पूर्ण उसे है करना;
जीवन की हर सुखद भूमि पर-
हमको श्रेय उतरना।

पति-पत्नी का एक धर्म है-
सात्विक जीवन जीना;
किन्तु उसे ही भौतिक जीवन-
का रस भी है पीना।

इसलिए दोनों मार्गों को-
हम स्वीकार करेंगे,
भौतिक रस से भी इस मन को-
सिंचते! सदा रहेंगे।

अपने में परमार्थ प्रेम तो-
सब दिन रहता जगता,
किन्तु जहाँ साधन है, अन्तर-
रहता. प्रेम में पगता।

हम-तुम दोनों पति-पत्नी सा-
जीवन सुखद बनाएँ,
जग की आँख बचाकर चलें-
प्रेमिल विश्व सजाएँ।

किन्तु मात्र दस वर्षों तक ही-
होगा वैसा जीवन;
तत्पश्चात् करेंगे मिलकर-
अन्य धर्म का पालन।

कहा जयन्ती ने तब हँसकर-
प्रभु की जैसी इच्छा;
इसमें नहीं करूँगी कोई-
अपने मन से पृच्छा।

✦ ✦ ✦

शुक्रदेव ने हाथ पकड़कर-
बाला को बैठाया;
अपने शूने घर में नव-नव-
भव्य विहार रचाया।

माया की कर दी वह लीला-
कोई देख न पाए;
दस वर्षों तक कोई उनके-
पास न आने पाए।

जो भी आते शून्य गेह से-
लौट तुरत ही जाते;
ऐसे थे अदृश्य कि कोई-
उनको देख न पाते।

दैत्य-गणों ने सुना गुरु की-
पूरी हुई तपस्या;
शुक्रदेव के सम्मुख अब है-
कुछ भी नहीं समस्या।

बड़ी ललक से आए सब जन-
उनसे मिलने घर पर;
किन्तु, वहाँ पर मिला न कोई-
उनके सूने दर पर।

लौट गए सब अपने मन में-
सारे भाव छिपाए,
सोचा कुछ दिन और प्रतीक्षा-
में ही समय बिताएँ।

इसी बीच देवों के गुरु से-
दैत्य-गणों में आए;
उन्हें देखकर दैत्य समन्वित-
भ्रमवश से भरमाए।

इधर शुक्र थे दस वर्षों तक-
प्रेम-विहार-रचाते;
मृदु रमणी के प्रेम-पाश में-
अपना मन बहलाते।

यही महालक्ष्मी की माया-
उसकी ही है करणी;
यही एक धरती पर सब के-
कर्मों की है भरणी।

जयति महालक्ष्मी हम करते-
मन से तेरा वन्दन;
दया करो माँ, मिटे भुवन के-
जन-जन का सब क्रन्दन।।

नवम सर्ग

शुक्रदेव थे दस वर्षों तक-
मोद-प्रमोद मनाते;
होकर के अदृश्य सर्वों से-
सुख से समय बिताते।

बीत गयी जब अवधि अचानक-
बोले- अब है जाना;
दानव-दल को है संकट के-
भय से मुझे बचाना।

निकले घर से चले दानवों-
को अक्षय-सुख देने;
कार्य-बोध का ज्ञान कराकर-
अपना भी सुख लेने।

किन्तु वहाँ जो देखा उससे-
काँपा उनका अन्तर;
देवों के गुरु शुक्र रूप में-
बैठे थे आसन पर।

कहा शुक्र ने दानव-गण से-
मैं आचार्य तुम्हारा;
किस ढोंगी को पूज रहे हो-
तुमने नहीं विचारा?

देवों का गुरु बृहस्पति यह-
तुमको ठगने आया;
इसने अपने कुटिल जाल में-
तुम सब को भरमाया।

है आश्चर्य कि तुमने इसको-
नहीं तनिक पहचाना;
कौन कर्म सिखलाये तुम को-
इसे न कुछ भी जाना।

छोड़ो इसको मैं गुरू तेरा-
मेरे सँग सब आओ;
इस ढोंगी को धूल चटा कर-
अपनी राह बनाओ।

दैत्यों ने पर एक न मानी-
उनको ही दुत्कारा;
तुम ढोंगी हो, नहीं सुनेंगे-
कोई वचन तुम्हारा।

जाओ, जाओ यहाँ न अपनी-
माया तुम फैलाओ;
अपने मोहक शब्दों से तुम-
हमें न भ्रष्ट बनाओ।

शुक्रदेव ने क्षुभित-कुपित हो-
तुरत शाप दे डाला;
शीघ्र मिटोगे, नहीं मिलेगा-
रक्षा करनेवाला।

तुम्हें न कोई बचा सकेगा-
सत्य यही है जानो;
मेरा जो अपमान किया है-
उसका फल पहचानो।

हाल तुम्हारा होगा वैसा-
पतितों का जो होता;
अपने पथ से भ्रष्ट जीव तो-
रहता है नित रोता।

इतना दे अभिशाप वहाँ से-
शुक्र चले ही आए;
सोचा मन में- दानव-गण है-
मन से सब भरमाए।

  

देवों के गुरु ने जब देखा-
बात बनी अब सारी;
असुर-देव ने दानव-गण को-
शाप दिया है भारी।

वे भी चले वहाँ से झटपट-
मन-ही-मन हर्षाए;
इन्द्रदेव के पास, जहाँ सब-
देव खड़े थे आए।

आकर बोले- हमने तेरी-
सारी बात बनाई;
देर न हो, अब दानव-दल पर-
कर दो शीघ्र चढ़ाई।

शक्ति-क्षीण सब दैत्य हुए हैं-
क्या प्रतिरोध करेंगे?
वे तो तेरे गर्जन सुनकर-
अपने आप डरेंगे।

शुक्रदेव ने शाप दिया जो-
उबर न उससे सकते;
हो न सकेगी विजय देव से-
कुछ भी उनके करते।

यही समय है, करो चढ़ाई-
देर न होने पाए;
मेरा है आशीष, तुम्हारा-
शुभ दिन अब फिर आए।



दानव-गण के पास नहीं थे-
कोई एक सहायक;
क्रोधित होकर छोड़ गए थे-
शुक्रदेव से नायक।

बिना पाल की नाव सरीखा-
चलता उसका जीवन;
कठिन काल के सघन थपेड़ों-
का सहते उत्पीड़न।

यही समय है- देखा सब ने-
शुभ्र घड़ी है आई;
देव-गणों ने दानव-गण पर-
कर दी तुरत चढ़ाई।

हुआ वही परिणाम कि जिसकी-
सबको ही थी आशा;
इन्द्रपुरी से दानव भागे-
पलट गया सब पासा।

दानव-गण सब भाग गए थे-
देवपुरी हर्षाई;
देवों के आनन पर भी अब-
नयी विभा लहराई।

सब ने नूतन शंख बजाए-
अभिनव राग सजाया;
देवों का फिर केतु गगन में-
फर-फर-फर फहराया।

यही महालक्ष्मी की माया-
जिसके वश सब रहते;
उसकी होती दया तभी हम-
शुभ्र कर्म हैं करते।

वही शक्ति बन कर है सबको-
विजय-माल पहनाती;
होकर वह सौभाग्य सबों के-
पास स्वयं ही आती।

जीवन के सब शुभ कर्मों की-
वही प्रेरणा बनती;
चाह विजय की वही जगाती-
वही ऐषणा बनती।

सब कर्मों की वही विधात्री-
वही राह दिखलाती;
अपने इंगित से इस जग को-
अम्बे स्वयं चलाती।



अपना है कर्त्तव्य हृदय में-
शुभ विचार नित लाएँ;
किसी लोभ में पड़कर अपना-
हृदय नहीं भरमाएँ।

सात्विकता की परम पोषिका-
माते, तेरी जय हो;
तेरी कृपा-कोर से भू का-
जीवन अब सुखमय हो।।

दसवाँ सर्ग

इन्द्रपुरी अब पुनः सलोनी-
रूप सजा कर आई;
उसके आनन पर नवजीवन-
की उमंग लहराई।

कोट-कँगूरे फिर से नूतन-
रंग सजाकर निखरे;
मादक-मोहक तत्त्व वहाँ के-
कण-कण पर फिर बिखरे।

बजने लगा पुनः वह वादन-
भोग बढ़ाने वाला;
उठा पुनः संगीत सर्वों का-
मन बहलाने वाला।

देवों का चिर यौवन जागा-
भोग लगे फिर करने;
जहाँ कहीं सौन्दर्य देखते-
लगे वहीं पर रमने।

श्रम का पावन धर्म भुलाया-
बनकर पूर्ण विलासी;
कुछ दिन में ही पुनः हुए वे-
मादकता अभ्यासी।

श्रम ही है वह तत्त्व कि जिस पर-
भूतल सदा टिका है;
और नहीं तो कौड़ी कारण-
जीवन सदा बिका है।

श्रम का पूजन करनेवाला-
कभी नहीं भरमाता;
केवल श्रम से ही वह अपने-
जीवन का सुख पाता।

श्रम ही है जो हर प्राणी को-
देता सदा सहारा;
बीच भँवर में पड़ी नाव को-
देता वही किनारा।

जब-जब श्रम का ह्रास हुआ है-
जीवन है भरमाया;
श्रम को छोड़ कभी जीवन में-
चैन नहीं आ पाया।

श्रम ही है सोपान कि जिससे-
जीवन ऊपर उठता;
श्रम से ही मिटती है केवल-
सब भविष्य की जड़ता।

आज जहाँ जो श्रम होता है-
उसका फल दूरागत;
प्राप्त वही करता जो इसका-
करता मन से स्वागत।

सत्य नहीं यह आज किए श्रम-
का फल आज मिलेगा;
दूर भविष्यत् के आँगन पर-
इसका फूल खिलेगा।

एक दिवस के लिए कभी भी-
कोई कर्म न होता;
आने वाला भावी पल ही-
इसको सब दिन ढोता।

जैसे कोई बीज लगाएँ-
तुरत नहीं फल देता;
सद्यः चाहे जितना-जैसा-
जीवन का श्रम लेता।

इसी तरह हम जो भी करते-
वही कर्म है आश्रय;
उस पर ही तो रहता निर्भर-
जीवन का अरुणोदय।

कर्म शुभाशुभ पर अवलंबित-
है यह जगती सारी;
जैसा होगा कर्म मिलेगी-
वस्तु वही अनुहारी।

चाहे जो भी जो कुछ कह ले-
कर्म किन्तु, फल दायक;
भावी की हर नयी योजना-
का है वह निर्णायक।

कर्म शुभाशुभ के घेरे में-
रहती सृष्टि विभाजित;
कर्मों के संचयन-योग पर-
फल होता है आश्रित।

श्रम से भिन्न भोग है जिस पर-
रहती तमसा छाई;
उसके दृग के आगे होती-
विपदा की अगुवाई।

भोगों के ही वशीभूत हो-
सब कुछ जीव गँवाता;
महागर्त में गिरकर, ऊपर-
उठने कभी न पाता।

भोग रोग है, तृप्ति न जिससे-
कभी हृदय में आती;
इससे अविरल बढ़ती रहती-
तृष्णाओं की थाती।

बाद एक के और अनेकों-
भोगों में मन रमता;
नहीं कभी भी किसी जीव में-
भोगों का गुण कमता।

एक-एक कर आते रहते-
रूप अनेकों धरकर;
नयी वासना जगती रहती-
मन में उभर-उभर कर।

खुलकर सब इन्द्रियाँ स्वयं ही-
ऐसे में जग जातीं;
रूप-गंध औ' रस से विह्वल-
रहती हैं अकुलातीं।

तरह-तरह के भोगों का वह-
साधन सदा जुटाती;
एक-एक से रस ले-लेकर-
पल-पल खुशी मनाती।

भोगों का है प्रेय यही वह-
कभी नहीं मिट पाता;
उसको पाने का लालच तो-
हरदम बढ़ता जाता।

एक भोग के लिए अनेकों-
साधन साधे जाते;
एक बिन्दु पर भोग अनेकों-
प्राणी रोज सजाते।

भोगों का है अन्त नहीं सब-
जीव यहाँ खो जाते;
भोगों की दुनिया में सब जन-
रोगमयी हो जाते।

कोई इससे उबर न पाता-
तोड़ न पाता बन्धन;
अन्त पास जब आता करता-
जीव अहर्निश क्रन्दन।

देवों का भी यही हाल था-
हुए भोग में पागल;
भूल गए कर्त्तव्य-ज्ञान सब-
होकर मन से चंचल।

जिस श्रम से इन्द्रासन पाया-
असुरों पर जय पाई;
भूल गए उस श्रम-सीकर को-
आनन की तरुणाई।

फिर तो कोई बचा न पाया-
ऐसा घिरा अँधेरा;
देवपुरी में असुर-गणों का-
फिर से हुआ बसेरा।

दैत्यों ने जब देखा देवों-
में है भोग समाये;
समझ गए वे-दुर्दिन अब तो-
पास उन्हीं के आये।

हुआ यही, थे देव-विलासी-
लक्ष्मी की थी माया;
अवसर पाकर दैत्य-राज फिर-
उन पर झट चढ़ आया।



जयति महालक्ष्मी। है तेरा-
अपरम्पार कथानक;
एक पटल पर आते रहते-
तरह-तरह के नायक।।

ग्यारहवाँ सर्ग

शुक्राचार्य खिन्न होकर जब-
अपने घर में आए;
कहा जयन्ती ने तब उनसे-
क्यों लगते घबड़ाए।

शुक्रदेव ने उसको सारी-
बातें तुरत बता दी;
सुर-गुरु के भी छल की गाथा-
उसको सब समझा दी।

कहा कि देखो असुर-गणों में-
क्या विचार हैं आये?
मुझे छोड़ वृहस्पति में ही सब-
रहते हैं भरमाये।

इससे उनको बड़ी हानि है-
समझ नहीं वे पाते;
मुझे ग्लानि है शिष्य हमारे-
भ्रष्ट हुए सब जाते।

कहा जयन्ती ने- हे गुरुवर-
क्यों करते हैं चिन्ता;
व्यर्थ सोचने से तो भव की-
कटती नहीं विषमता?

कालचक्र के घेरे में वे-
स्वयं समझ सब लेंगे;
तभी जाग कर निद्रा से सब-
प्राप्य सभी का देंगे।

इतने में ही दैत्यों के नृप-
वलि थे वहाँ पधारे;
हाथ जोड़ कर बड़े प्रेम से-
वन्दन-वचन उचारे।

उनके सँग ही सभी असुर-गण-
झुण्ड बाँध कर आए;
अपने किए कुकर्मों पर सब-
मन-ही-मन पछताए।

क्षमा याचना करके सब ने-
किया शुक्र का वन्दन;
अपनी सारी व्यथा सुनाई-
करके भीषण क्रन्दन।

शुक्रदेव तो सिद्ध पुरुष थे-
द्रवित हुए पलभर में;
आशीर्वाद दिया फिर उनको-
अपने स्वस्तिक स्वर में।

बोले फिर वे- लक्ष्मी की है-
ऐसी ही यह माया;
उसने ही तो हम दोनों को-
अब तक है भरमाया।

किन्तु महालक्ष्मी फिर हम पर-
अब प्रसन्न हो आई-
इसीलिए अब देवों में है-
जड़ता पुनः समाई।

सभी भोग में लीन हुए हैं-
अपना स्वत्व गवाँ कर;
आज अकिंचन नहीं दूसरा-
उनके जैसा भू पर।

श्रम को त्याग हुए सब सुर-गण-
भोगी और विलासी;
क्षणभंगुर भोगों में रत हैं-
होकर के अविनाशी।

और इधर अब जाग गए तुम-
निद्रा टूट गयी है;
अन्ध बनानेवाली सारी-
जड़ता छूट गयी है।

नए शौर्य औ' बल लेकर तुम-
अपने पथ पर जाओ;
समय बड़ा अनुकूल मिला है-
अपना काम बनाओ।

आशीर्वाद तुम्हें देता हूँ-
विजयी होकर आओ;
अपने जय की यशः पताका-
अम्बर में फहराओ।

मैं भी साथ रहूँगा हरदम-
पलभर भी मत डरना;
शक्ति क्षीण हो कैसे रिपु की-
वही काम सब करना।

काल बली है, वही यहाँ पर-
सारा खेल रचाता;
इसका-उसका सबका वह ही-
सब सौभाग्य सजाता।

इतना कह कर शुक्रदेव ने-
आशीर्वाद दिया था;
हर्षित होकर दैत्य राज को-
उर से लगा लिया था।



जयति महालक्ष्मी है तेरी-
दया अपार भुवन पर;
तेरी करूणा से विहँसित है-
भूतल का अभ्यंतर।।

बारहवाँ सर्ग

असुरों की जब हुई चढ़ाई-
सुर-गण सब घबड़ाए;
कैसे उनको करें पराजित-
समझ नहीं कुछ पाए।

असुर वेग से चढ़ आए थे-
उनमें शौर्य भरा था;
उनकी प्रबल प्रचण्ड शक्ति में-
नव उत्साह धरा था।

उनके चरण जहाँ भी पड़ते-
इन्द्रपुरी अकुलाती;
उनके अतुल वेग को धरती;
सहन नहीं कर पाती।

करते सब उद्‌घोष गगन में-
केतु नया फहराते;
नदियों में प्लावन हो जैसे-
बढ़ते ही सब आते।

कोई उनको रोक न पाते-
ऐसा वेग प्रबल था;
उनके पदाघात से नभ में-
भीषण कोलाहल था।

सुर-गण ने जब देखा उनकी-
शक्ति क्षीण हो आई;
अपने में ही कुंठित जैसी-
हुई सबल तरुणाई।

लेकर कुछ नैराश्य हृदय में-
सुर-गण सब अकुलाए;
त्राहिमाम् कह विष्णुदेव के-
सम्मुख ही सब आए।

किया निवेदन-महाराज, हम-
कैसे लाज बचाएँ;
असुरों ने सब घेर लिया है;
कहें, कहाँ हम जाएँ।

हमको कोई ठौर न दिखता-
शून्य चतुर्दिक लगता;
हम सब की आँखों के आगे-
प्रलय-काल है जगता।

एक मात्र हैं आप हमारे-
जीवन के अब रक्षक;
असुर-सैन्य तो चढ़ आया है-
बनकर सबका भक्षक।

दया करें हे देव! बताएँ-
अभी कहाँ हम जाएँ;
असुरों के आघातों से हम-
कैसे जान बचाएँ।

पंथ न दिखता लगता हमको-
गहन तिमिर है छाया;
अनायास यह दुर्दिन क्योंकर-
आज यहाँ है आया?

अलकापुर के नन्दन कानन-
उजड़ रहे हैं सारे;
अपने घर से बाहर हम अब-
फिरते मारे-मारे।

दया करें हे जगन्नियन्ता-
कोई युक्ति बताएँ;
कैसे संकट टले, आप ही-
कोई राह दिखाएँ।

असुर-सैन्य का वेग प्रबल है-
रोक न हम सब पाते;
उनके सम्मुख आने में ही-
हम बेहद घबड़ाते।

लगता जैसे उनको कोई-
शक्ति मिली है नूतन;
इसीलिए वे फिर चढ आए-
हम सब पर अब इस क्षण।

आप बताएँ हम सब कैसे-
इस संकट को टालें;
कौन जगह है जहाँ पहुँच कर-
त्राण तनिक हम पालें।



विष्णु देव ने भाव-मग्न हो-
ध्यान लगा कर देखा;
असुरों पर आई विपदा का-
लिया हृदय में लेखा।

बोले फिर वे- सुर-गण मन में-
नूतन भाव जगाओ;
बल-विक्रम अब काम न देगा-
नया पंथ अपनाओ।

असुर-सैन्य अब बहुत बली है-
पार न तुम पा सकते;
उनके शौर्य-वेग के आगे-
कभी नहीं जा सकते।

लड़ने से अब कुछ न बनेगा-
कोई काम तुम्हारा;
कोई देगा तिनके-भर भी-
तुमको नहीं सहारा।

अमुर-गणों के अभी भाग्य में-
ग्रह-नक्षत्र प्रबल है;
अभी पराजित कभी न होंगे-
ऐसा उनमें बल है।

इसीलिए तुम रुको अभी कुछ-
और जतन अपनाओ;
शान्त-भाव से सोच-समझकर-
कोई कदम बढ़ाओ।

मेरा मत है तुम सब उनसे-
सन्धि तुरत ही कर लो;
मित्र-भाव से बढ़कर उनके-
हाथों को तुम धर लो।

उनको अमृत-पान कराने-
का तुम करो बहाना;
इसी हेतु सागर-मंथन का-
उनको राज बताना।

बड़े महत्वाकांक्षी हैं वे-
बात तुरत मानेंगे;
सागर-मंथन में फिर पूरा-
योग-दान वे देंगे।

इसी तरह सब बात बनेगी-
होगी जीत तुम्हारी;
और नहीं तो मिट जाएगी-
अलका की फुलवारी।



"विष्णु-देव की बातें सुनकर-
सभी देवता आए;
असुर-राज के पास तुरत ही-
अपना दूत पठाए।

यही महालक्ष्मी की माया-
सबको है भरमाती;
उनके सम्मुख किसी शक्ति की-
चाल न चलने पाती।

जयति महालक्ष्मी हम तेरी-
महिमा प्रतिपल गाते;
तेरे कीर्त्तन-रस से भू पर-
कोई नहीं अघाते।।

तेरहवाँ सर्ग

इन्द्रराज के दूत सुपंडित-
दानव-दल में आए;
दैत्य-नृपति के सम्मुख बोले-
सादर शीश झुकाए।

अग्नि जलाती और सभी कुछ-
जलनेवाला होता;
अग्नि-धार में नहीं मिलेगा-
शीतल जल का सोता।

जो भी आग हाथ में लेकर-
चलता, पहले जलता;
भीतर-भीतर जल-जलकर वह-
रहता सदा उबलता।

युद्ध जहाँ भी आता पल में-
सर्वनाश हो जाता;
अपने और पराए में कुछ-
भेद न रहने पाता।

इसीलिए है अच्छा हम सब-
युद्ध-नीति अब त्यागें;
सर्वनाशिनी संगर-ज्वाला-
छोड़ें, इससे भागें।

हम दोनों का हित है इसमें-
मिलकर काम बनाएँ;
अब तक जो भी हुआ यहाँ पर-
याद न उसकी लाएँ।

एक योजना है यदि हम सब-
काम करेंगे उस पर;
दोनों दल आनन्द करेंगे-
अजर-अमर फिर होकर।

दैत्य-नृपति ने कहा कि बोलो-
खुलकर सब बतलाओ;
कौन योजना लाए हो तुम-
उसका रूप दिखाओ।

दानव-नृप से कहा दूत ने-
रत्नाकर को देखें;
कितने रत्न पड़े हैं उसमें-
आप स्वयं ही लेखें।

रत्नों के संग अमृत भी है-
आप इसे सच माने;
अजर-अमर होने का साधन-
एक वही है जाने।

हम दोनों दल सागर मथकर-
लाएँ अमृत बाहर;
उसे बाँट कर पी जाएँगे-
दोनों दल मिलजुल कर।

पाकर फिर अमरत्व धरा पर-
सुख से समय वितायें;
काम यही है सब के हित का-
भेद न मन में लायें।

दैत्य-राज ने कहा कि इसमें-
छल तो कहीं नहीं है;
कैसे समझूँ, तुम जो कहते-
सारी बात सही है।

इन्द्र सदा ही अपने छल से-
हमें हराता आया;
आज पुनः क्या नहीं उसी ने-
फैलाई यह माया?

कैसे समझूँ तुम कहते जो-
वह है अब सच्चाई?
दानव से मैत्री की बातें-
क्योंकर मन में आई?

यों तो यह प्रस्ताव ठीक है-
पर लगती है शंका;
कैसे होगी दूर हृदय से-
हम सब की आशंका?



ठीक समय पर वहाँ उसी क्षण-
नारद जी भी आए;
दैत्य-राज स्वागत कर उनको-
आसन पर बैठाए।

कुछ क्षण बाद इन्द्र का उनको-
सब प्रस्ताव सुनाया;
अपने मन की दुविधा का भी-
सारा भय बतलाया।

सुनकर देवर्षी तब बोले-
शंका बड़ी उचित है;
लेकिन इसमें सब जीवों का-
सब कल्याण निहित है।

पुनः कहा- मैं अभी-अभी हूँ-
विष्णु-लोक से आया;
स्वयं विष्णु ने यह रहस्य है-
मुझको भी बतलाया।

सागर में वह अमृत है जो-
अमर सब को कर दे;
सब जीवों को परमानन्दी-
सुख-वैभव से भर दे।

लेकिन उसका ऐसे पाना-
सचमुच बड़ा कठिन है;
आप सभी जीवों को देखें-
उनकी शक्ति मलिन है।

किसमें ऐसी शक्ति कि अपने-
बल से अमृत पाए;
महासिन्धु के तल तक जाकर-
उसको बाहर लाए।

देवों या असुरों में भी अब-
शक्ति नहीं है वैसी;
सागर-मंथन के हित उनमें-
आज चाहिए जैसी।

अलग-अलग कोई भी प्राणी-
सिन्धु नहीं मथ सकता;
ऐसे करके उसे मिलेगी-
केवल श्रान्ति-विफलता।

देव-असुर यदि मिलकर दोनों-
करें सिन्धु का मंथन;
तभी कदाचित हो सकता है-
अमृत-रस का दर्शन।

कहकर नारद चले वहाँ से-
प्रभु का ही गुण गाते;
नारायण-नारायण- स्वर से-
अपना मन बहलाते।



दैत्य-राज आस्वस्थ हुए से-
बोले सोच-समझकर;
हमको यह प्रस्ताव मान्य है-
जाकर कह दो सत्वर।

कहो इन्द्र से आकर झटपट-
कार्य-रूप में लाएँ;
जल्दी ही हम सब जन मिलकर-
इसको सफल बनाएँ।

जयति महालक्ष्मी यह कैसी-
तेरी अद्भुत माया;
अब तक तेरी महिमा जग में-
कोई समझ न पाया।।

चौदहवाँ सर्ग

क्षीर सिन्धु के तट पर आए-
दानव-देव समन्वित;
निराकार-साकार देव में-
मन को करके केन्द्रित।

अपने-अपने प्रभु को भजकर-
वने सभी उत्साहित;
पुण्य-कर्म में लगे सभी जन-
मन से हो आह्लादित।

मंथन-काष्ठ हुए मंदर गिरि-
कच्छप पात्र वने थे;
मंथन-रस्सी-शेषनाग ही-
बनकर खूब तने थे।

एक तरफ थे देव, दूसरी-
ओर खड़े थे दानव;
आकुल-व्याकुल सभी हुए थे-
पाने को मधु-आसव।

पाश वासुकी का जब कस कर-
हुआ सिन्धु का मंथन;
गूँज उठा अम्बर तक सहसा;
स्वर-अटूट-संघर्षण।

दिशा-दिशा तक कौंध उठी थी-
सिन्धु विकल अकुलाया;
जल के ऊपर तल तक अविकल-
फेन उफन कर आया।

लहरों की उत्ताल तरंगें-
　　लगी थपेड़े देने;
लगा कि जैसे बढ़ती जातीं-
　　अम्बर को छू लेने।

अन्धकार छा गया अचानक-
　　सूर्य-सोम सब भागे;
प्रलय काल का दृश्य भयानक-
　　आया दृग के आगे।

घर्षण का उद्घोष अकम्पित-
　　दिग-दिगन्त तक छाया;
एक साथ ही जड़ चेतन का-
　　प्राण विकल हो आया।

जलचर छोड़ वारि का आश्रय-
　　तट का लिया सहारा;
कम्पित स्वर में वरूण देव को-
　　बारम्बार पुकारा।

थलचर-नभचर भी अकुलाए-
　　भूतल चीख रहा था;
पवन-वेग से घर्षण का स्वर;
　　चारों ओर बहा था।

  

सागर का विष पूर्ण हलाहल-
निकला तल के ऊपर;
उसकी लहर ज्वाल से काँपा-
सारा भूतल अम्बर।

कौन इसे अब ग्रहण करेगा-
प्रश्न यही था भारी;
विष की लहरों से रक्षित हों-
सबकी थी लाचारी।

सहसा शंकर वीर वेश में-
सब के सम्मुख आए;
बाघम्बर परिधान पहन कर-
दृग में ज्वाल जगाए।

लिए हाथ में डम्-डम् डमरू-
जटाजूट सिर-बाँधे;
भस्म-भभूत लपेटे तन पर-
व्याल-कसे कर-काँधे।

दोनों कर से गरल-कलश धर-
ऊपर तनिक उठाए;
गट्-गट् पीकर विष, शशिशेखर-
नीलकंठ कहलाए।



शान्त जहर की लहर हुई तव-
सव ने खुशी मनाई;
नए सिरे से फिर मंथन की-
नयी प्रेरणा आयी।

कामधेनु फिर आई वाहर-
महासमुन्दर तल से;
सव का मन भर आया उसकी-
चापों की हलचल से।

कामधेनु है सुरभि कि जिससे-
मन-वांछित फल मिलता;
जीवन में जो फूल चाहिए-
सद्यः उस से खिलता।

कामधेनु के वाद सहज ही-
कल्पवृक्ष भी आया;
नन्दन-वन ने इन दोनों को-
अपना तुरत बनाया।

उच्चैःश्रवा वहाँ फिर आया-
सागर-तल से वाहर;
दानव-दल ने उसे प्राप्त कर-
खुशी मनायी जी भर।

ऐरावत मदमस्त गजाधिप-
निकल सिन्धु से आया;
स्वयं इन्द्र ने बढ़कर आगे-
उसको था अपनाया।

इसी तरह फिर कौस्तुभ नामक-
पद्मराग मणि आई;
भूतल-अम्बर तक पर फैली-
इसकी नव अरुणाई।

कई अप्सराएं थी आई-
निकल सिन्धु से बाहर;
चक्र सुदर्शन भी था निकला-
प्रभु का शस्त्र मनोहर।

वनमाला भी निकली मनहर-
जगमग ज्योति समुज्ज्वल;
जिसकी सौरभमय आभा में-
मधुप घिरे थे चंचल।



एक-एक जो वस्तु निकलती-
देख सभी हर्षाते;
अब अमृत है, अब अमृत है-
कह-कह कर चिल्लाते।

यही महालक्ष्मी की माया-
सब में रहती आशा;
अन्त तलक सब जीवों में नित-
जगती है अभिलाषा।

देव-दनुज सब चूर हुए थे-
भीषण श्रम से थक कर;
फिर भी उनमें जाग रही थी-
जीवन-आशा-सुखकर।



यही तुम्हारी लीला अम्बे-
आशा तुम्हीं बँधाती;
एक तुम्ही माँ। सब जीवों में-
सुख-सरसिज सरसाती।।

पन्द्रहवाँ सर्ग

मंथन का यह कार्य अहर्निश-
चलता था अविराम;
एक-एक कर दृश्य उभरते-
रहते थे अभिराम।

सहसा प्रकट हुई सागर से-
शोभा श्री नव मूर्त्ति;
प्रभु की नित्या शक्ति अपरिमित-
सात्विकता की स्फूर्ति।

स्वयं महालक्ष्मी थी सद्यः-
विद्युत-सी गतिमान;
दिशा-दिशा जगमगा उठी थी-
होकर महिमावान।

उसके अनुपम रूप-रंग पर-
खिँचा सभी का चित्त;
वह औदार्य अकम्पित शोभा-
जीवन का मधु-वृत्त।

सब ने चाहा- मिले हमें ही-
सागर का यह रत्न;
इसे प्राप्त कर धन्य बनेगी-
पावन कीर्त्ति-सुयत्न।

देव-असुर-नर सब ने चाहा-
हमको ही हो प्राप्त;
पाकर वस्तु सुधन्या हम सब-
होंगे सचमुच आप्त।

जड़-चेतन सब जीवों में ही-
जाग उठी थी चाह;
जलधि-सुता के लिए जगा था-
सब में तीव्र प्रदाह।

मूर्तिमान नदियाँ भी बनकर-
आई रम्य सुनीरा;
किया सभी ने उसके वन्दन-
तान-साध-गम्भीरा।

नदियों ने पावन जल लाकर-
किया शुभ्र अभिषेक;
सब के मन में शुभ भावों का-
होता था उद्रेक।

वसुधा ने औषधियाँ लाकर-
दी थीं उनके योग्य;
समझ रही थी सभी की यह है-
परा शक्ति उपभोग्य।

पंचगव्य गौओं ने लाकर-
दिया उन्हें अभिराम;
किया उपस्थित सब जीवों ने-
वस्तु वहाँ अविराम।

झुका सदेह वहाँ चरणों में-
आकर माह वसन्त;
फल-मूलों से किया देवि का-
पूजन भव्य दुरन्त।

ऋषि-मुनियों ने स्वस्ति वचन से-
गाये उनके गीत;
किन्नर औ' गन्धर्व सुनाए-
मंगलमय संगीत।

नर्त्तनियों ने नाच दिखाया-
अपना अन्तर खोल;
बादल लगे सदेह बजाने-
डमरू-वीणा-ढोल।

हुईं कमल ले कर में कमला-
सिंहासन आसीन;
दिग्गज सब ले जल के कलसे-
गाए गीत नवीन।

वेदमंत्र विप्रों ने पढ़कर-
तुरत झुकाए शीश;
विमल चाँदनी छिटकाई थी-
उस क्षण आ रजनीश।

दिये सिन्धु ने वस्त्र रेशमी-
के नूतन परिधान;
किया वरुण ने वैजयन्ती दे-
देवी का सम्मान।

विधि ने कमल, नाग ने कुण्डल-
दिया उन्हें उपहार;
किया विश्वकर्मा ने देकर-
गहनों से श्रृंगार।



चाह देख सब की लक्ष्मी ने-
भाव किए निज व्यक्त;
सभी गुणों से युक्त कौन है-
भूतल पर अभिव्यक्त?

उसी पुरुष को वरण करूँगी-
मेरी है यह नीति;
सर्वगुणी को छोड़ किसी से-
नहीं तनिक भी प्रीति।

चली लिए वर माला कर में-
अपनी गति में मन्द;
पग-पग पर ज्यों रहे बिखरते-
महाप्राण के छन्द।

हुआ वहीं पर महाविष्णु का-
भी सद्यः प्राकट्य;
खुला अचानक नए नाट्य का-
कोई नूतन पट्य।

महाविष्णु को महाशक्ति ने-
वरमाला दी डाल;
भेरी-शंख-नगाड़ों का स्वर-
गूँज उठा तत्काल।

दिशा-दिशा ने जय के स्वर में-
गाए शुभ संगीत;
फूट पड़े ब्रह्मा के मन-से-
वेदों के उद्‌गीत।



देव-असुर सब चकाचौंध से-
भाव-भरे अभिभूत;
किया महालक्ष्मी का वन्दन-
होकर पावन-पूत।



जयति महालक्ष्मी! यह धरती-
पाए आशीर्वाद;
ग्रहण करो पूजन-वन्दन, दो-
करुणामयी प्रसाद।

दिग्-दिगन्त तक गूँजे कमले।
तेरा शुभ्र निनाद।
समतामयी। धरा पर भेजो-
विमले। शुभ संवाद।

मिटे विषमता फैले भू पर-
तेरी शक्ति अथोर;
गूँज उठे अम्बर तक माते।
तेरी जय की रोर।।

सोलहवाँ सर्ग

महाशक्ति के आते भू पर-
    फैली एक हिलोर;
एक विमल आनन्द ज्योति-सी-
    छाई चारों ओर।

दिशा-दिशा में कोलाहल के-
गूँजे अनगिन शब्द;
पुण्य-भाव की प्रतिभा जागी-
आये नूतन अब्द।

हलचल की इस बेचैनी में-
जागा ऊहापोह;
असुर-गणों के मन में भी था-
जाग उठा विद्रोह।

आँख उठाए देख रहे थे-
होकर सभी अशान्त;
तरह-तरह के उद्घोषों से-
भरा हुआ था प्रान्त।

कोई शान्त नहीं था मन से-
सब जन थे बेचैन;
जो भी कहते समझ न पाते-
अस्फुट थे सब बैन।

इसी घड़ी धन्वन्तरि निकले-
अमृत-घट ले हाथ;
एक अजब उत्फुल्ल विभा भी-
आयी उनके साथ।

मन्द-मन्द गति चलकर वे तो-
तट पर आए शान्त;
उन्हें देखकर असुरों का मन-
हुआ तुरत उद्भ्रान्त।

चाहा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible];
उनके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-
[illegible] [illegible] [illegible]।

दौड़ पड़े सब जल से बाहर-
मंथन का क्रम छोड़;
जाग रही थी उनके मन में-
एक नयी-सी होड़।

देखें, सागर से निकले हैं-
जाने, कितने द्रव्य;
ज्यादातर देवों ने ही तो-
लिये तत्त्व सब भव्य।

लेकिन अब अमृत पर होगा-
हम सब का अधिकार;
इसे नहीं हम छोड़ सकेंगे-
यह है सुदृढ़ विचार।

धन्वन्तरि तब बोले- देखें-
यह है तत्त्व महान;
किसी एक के लिए नहीं है-
यह घट महिमावान।

आओ, हम सब चलें तुरत ही-
विष्णु देव के पास;
वही करेंगे निर्णय जिससे-
होगा शुभ्र प्रकाश।

प्रकट हुए झट विष्णु देव भी-
तट पर सब के बीच;
किया सभी ने पूजन-वन्दन-
सागर-नीर-उलीच।

कहा विष्णु ने हँसकर सब से-
होकर कुछ गम्भीर;
लोभ शत्रु है सब जीवों का-
करता प्राण अधीर।

इसी लोभ के कारण जग में-
होते हैं सब नष्ट;
ऋषि-मुनि भी इसकी माया में-
हो जाते हैं भ्रष्ट।

सबसे पहले इसी तत्त्व का-
करो हृदय से नाश;
सच मानो तब, किसी जीव का-
कभी न होगा ह्रास।

लोभ छोड़ कर बैठो सब जन-
आओ, मेरे पास;
द्वन्द्व-कलह सब छोड़ो, मन में-
सुख से करो निवास।

सुनते असुर समूह अचानक-
तुरत उठे थे चीख;
नहीं सुनेंगे कुछ भी हम सब-
नहीं माँगते भीख।

पूरा श्रम है लगा हमारा-
मूल्य हमें हो प्राप्त;
देकर हम को अमृत का घट-
झगड़ा करें समाप्त।

कहा विष्णु ने- अमृत घट है-
नहीं एक ही चीज;
सब जीवों के लिए यही है-
पुण्यमयी तावीज।

सन्धि यही थी तुम सब से भी-
इसको लेंगे बाँट;
किसी एक के लिए बनी है-
यहाँ न कोई हाट।

फिर क्यों मन में जाग रहा है-
ऐसा भीषण लोभ;
जाग रहा फिर क्यों तुम सब के-
अन्तर-तर में क्षोभ।

बैठो, तुरत बाँट मैं दूँगा-
अमृत सब के बीच;
मत आने दो अपने मन में-
मलिन क्रोध की कीच।



बैठे देव-दनुज सब भू पर-
उतरी प्रभु की शक्ति;
अतुल मोहनी रूप धरे वह-
विमल भाव की भक्ति।

महाविष्णु की शक्ति समादृत-
पावन परम पुनीत;
हुई सभी के सम्मुख तत्क्षण-
सादर भाव-प्रणीत।

परम रूपमय विश्व मोहनी-
शोभा अपरम्पार;
उसे देखकर हुआ विमोहित-
असुरों का संसार।

  

दिया मोहनी ने देवों को-
अमृत का वरदान;
असुर रहे सब ठगे-ठगे से-
भावों में अनजान।

इतने में आ बैठा राहु-
देव-गणों के मध्य;
जान गए जब विष्णु किया तय-
होगा इसका बध्य।

चक्र उठा कर काट दिया सिर-
मरा न लेकिन राहु;
अमृत पीकर शीश अमर था-
मरण-शील धड़-वाहु।

अब तक विचरण करता होकर-
सिर अवशेषित दीन;
सभी ग्रहों में मलिन बना है-
पंकिल भव-उड्डीन।

अगजग तक अब हुई प्रचारित-
उसकी छवि विद्रूप;
राहु-केतु से दुष्ट ग्रहों में-
उसके ही हैं रूप।



जयति महालक्ष्मी यह तेरा-
कैसा विपुल प्रभाव;
तुम्हीं जगाती सब जीवों में-
तरह-तरह के भाव।

जगन्निवासिनि! माते मैं हूँ
सम्मुख अब नत शीश;
मुझे कृतार्थ करो माँ अम्बे।
देकर शुभ आशीष।।

सत्रहवाँ सर्ग

महाविष्णु की क्रिया शक्ति-सी-
जगत-विधात्री अम्बे।
स्वयं महालक्ष्मी है भू पर-
शक्ति-भक्ति जगदम्बे।

जहाँ-कहीं जो श्रेष्ठ तत्व है-
उसमें रूप उसी के;
ऋद्धि-सिद्धि की सब अनुकम्पे-
हैं अनुरूप उसी के।

जहाँ कहीं सौन्दर्य दीखता-
उसकी स्वयं-प्रभा है;
भू-अम्बर तक सदा प्रकाशित-
उसकी विमल विभा है!

जड-चेतन औ सकल चराचर-
में रहती उद्भासित;
अणु-अणु तक में बिम्ब उसी का-
होता है आभासित!

सकल सिद्धि की दात्री वह है-
इच्छाओं की जननी;
हर कारण में वही समाहित
बनकर कारण-करनी!

और जीव की बात क्या?
देव, उसी के आश्रित;
देवों का देवत्व उसी के-
बल पर है आधारित!

उसके रूठे, सब मिट जाता-
जीव निराश्रित होते;
पलक-मारते जीवन-भर के-
वैभव- श्री सब खोते!

अहं भाव के सम्मुख माता-
कभी न रहने पाती;
अहंकार के पर्वत तक को-
क्षण में राख बनाती!

यही हुआ था, इन्द्र देव को-
जब घमण्ड ने घेरा;
पड़ा उन्हें भी महाविपद का-
सहना घोर थपेड़ा!



एक बार दुर्वासा मुनि थे-
शचिपति पास पधारे;
किया इन्द्र ने स्वागत पर थे-
भाव बहुत अनियारे।

श्रद्धा-भक्ति-समन्वित मन की-
कोई बात नहीं थी;
अहं-भाव की गंध समाहित-
उसमें कहीं-कहीं थी!

मुनि ने विष्णु देव की माला-
जो निर्माल्य दिया था;
सुरपति ने अनमने भाव से-
उसको ग्रहण किया था।

फिर उस माला को हाथी के-
मस्तक पर था डाला;
फलतः उन्हें पड़ा था मुनि के-
क्रोध रूप से पाला।

दुर्वासा ने दिया इन्द्र को-
शाप हृदय से भारी;
मिट जाएगा राज, मिटेगी-
तेरी सम्पति सारी।

नहीं महालक्ष्मी भी तेरे-
पास रहेगी जानो;
मेरा जो अपमान किया है-
उसका फल पहचानो।

इतना कह कर दुर्वासा तो-
गए कहीं तप करने;
रिक्त हुई थी शक्ति उसे फिर-
आराधन से भरने।



इधर महालक्ष्मी ने भी तो-
इन्द्रपुरी थी त्यागी;
तुरत गयी सागर के तल में-
विष्णु-प्रिया अनुरागी।

उसी घड़ी असुरों के बल से-
देव-शक्ति थी हारी;
दैत्यराज ही इन्द्रासन के-
तुरत हुए अधिकारी।

यही जगत में लीला, चलती-
शुभंकरी की माया;
जिससे कमला रूठी वह नर-
रहता है भरमाया।

पुनः महालक्ष्मी का पूजन-
किया इन्द्र ने मन से;
द्रवित हुई माँ अम्बे तत्क्षण-
देवों के क्रन्दन से।

वही प्रेरणा बनीं तभी तो-
हुआ सिन्धु का मंथन;
कमला भी सागर से आई-
सुनकर उनका वन्दन।

  

हुईं प्रसन्न तभी माँ कमले-
सबने शीश नवाया;
सुरपति ने फिर इन्द्रासन भी-
पुनः असुर से पाया।

शुभंकरी है माँ कमला ही-
सब कुछ देने वाली;
देव-दनुज औ' ऋषि-मुनियों का-
भाग्य सजानेवाली।

उसके वन्दन-अभिनन्दन में-
हम सब हृदय लगाएँ;
उसके आशीर्वादों से ही-
सब सौभाग्य मनाएँ।

जय माँ कमले शुभंकरी तुम-
मंगल देनेवाली;
एक तुम्हीं हो माँ जगदम्बे।
विपदा हरनेवाली।।

अठारहवाँ सर्ग

जय-जय लक्ष्मी। वरालिका तू-
वाक्-धात्री। दिकंवरी
तू ही माते लोक्कांता। तू
ही कमले। शुभंकरी।

तेरी छवि है व्याप्त चतुर्दिक-
दिशा-दिशा उद्भासित;
तेरे ही दर्शन से होते-
साधु-पुरुष आह्लादित।

साधक-सज्जन ध्यान लगाते-
तू ही ध्यान कराती;
तू ही भावाभूत हृदय के-
ईष्ट रूप में आती।

जीवन के हर चौराहे पर-
खड़ी सदा तू दिखती;
कर्म शुभाशुभ तू ही रचती-
भाग्य-लेख तू लिखती।



बनी 'स्वर्ग-लक्ष्मी' तू देवी-
स्वर्गपुरी में रहकर;
नागपुरी में नागलक्ष्मी तू-
पुण्यमयी है सत्वर।

बनी 'राज्य-लक्ष्मी' है तू ही-
नृप के तेज प्रखर में;
तू ही 'गृह-लक्ष्मी' है अम्बे।
सद् गृहस्थ के घर में।

गौओं में तू 'सुरभि' रूप से-
अद्‌भुत शोभा पाती;
यज्ञों में तू बनी 'दक्षिणा'
सबको तृप्ति दिलाती।

क्षीर-सिन्धु की कन्या रूपे-
नलिन-दलों में श्री है;
चन्द्र प्रभा में विमल। ज्योत्सना-
शीतल शोभा-सी है।

मणि-माणिक-पर्वत-नदियों की-
विभा सदा छिटकाती;
अम्बर के मेघों में जलभर-
सब की प्यास बुझाती।

जहाँ कहीं भी जीवन दिखता-
तू-ही-तू लहराती;
परम सुभग नयनों की छवि में-
काजल बन मुस्काती।



सृष्टि बनी है दो भागों में-
एक भाग है बाहर;
और दूसरा अन्तर-तर में-
शोभा-शील-शुभंकर।

दोनों में तू शक्ति-भक्ति बन-
अपना रूप दिखाती;
सब जीवों में आकांक्षा बन-
सबका दिल बहलाती।

आशा ही वह सम्बल है जो-
सबको सदा जगाता;
गिर-गिर कर भी जीव अहर्निश;
आगे बढ़ता जाता।

आशा की यदि डोर न हो तो-
जीवन ही मिट जाए;
बिन आशा के भव-सागर से-
कौन उबरने पाए?

देव-दनुज-नर-नाग सभी का-
आशा ही है सम्बल;
उससे ही जीवन में जगती-
शुभ्र भावना उज्ज्वल।

देवों ने गिर-गिर कर ही तो-
अपना भाग्य सँवारा;
जब भी आई कठिन घड़ी तो-
तुमसे मिला सहारा।

✦ ✦ ✦

मानव जग का प्राणी तो है-
सभी तरह से निर्बल;
शक्ति-भक्ति से सदा निराश्रित-
आकुल-व्याकुल-विह्वल।

वह भी प्रतिक्षण आशा का ही-
भाव सँजोए रहता;
आशा के बल पर ही तो वह-
कष्ट भुवन में सहता।

निखिल विश्व के जड़-चेतन में-
आशा बनकर जगती;
वह छवि तू ही है माँ अम्बे।
सब में सदा सुलगती।



जय माँ अम्बे। पीड़ित जग पर-
दया तनिक बरसाओ;
सूख रही फुलवारी में माँ-
नूतन फूल खिलाओ।

उतरो माँ। भूतल पर उतरो-
ज्ञान विभा फैलाओ।
सभी तरह से दुख-उत्पीड़ित-
जग को सुखद बनाओ।।

उन्नीसवाँ सर्ग

विष्णुवल्लभा। सर्व मंगला।
पद्मासनस्थ। अमले।
गूँज रही है दिग्-दिगन्त में-
तेरी ही जय कमले।

परा और अपरा विधा की-
देवी अधिष्ठात्री है;
सर्वभूत की विजय-सुमंगल-
की माते दात्री है।

पराशक्ति ही देती सब को-
मान-प्रतिष्ठा भू पर;
यही शक्ति है नाद-स्वरुपा-
भौतिकता से ऊपर।

ऋषि-मुनियों ने इसी शक्ति का-
किया सदा आराधन;
मात्र यही परमार्थ ज्ञान का-
बनती है शुभ साधन।



याग-यज्ञ औ' योग-क्षेम का-
जो स्वरुप दिखलाती;
जिसके कारण सभी अलौकिक-
शक्ति धरा पर आती।

वही परा विधा है भू पर-
जिसको जन अपनाकर;
जीवन के सब श्रेष्ठ तत्त्व का-
होता है वह सहचर।

इसी ज्ञान की विमल शिखा से-
नर महान हैं बनते;
कोई कर्म कभी उस नर से-
नहीं असम्भव रहते।

इसी ज्ञान के लिए तपस्वी-
तप में हृदय रमाते;
तरह-तरह के कष्टों का भी-
हँस-हँस भार उठाते।

जिसने त्यागा मोह वपुष का-
उसने सब कुछ पाया;
वही परा विद्या है जिसमें-
सबने हृदय रमाया।

जिस पर कृपा हुई विमला की-
वही यहाँ आ पाता;
वही अलौकिक परा-सुमन से-
अपना रूप सजाता।

ऐसे नर में सर्वभूत छवि-
मंगलमय लहराती;
जड़-चेतन सब जीवों में वह-
एक विभा दिखलाती।

पराज्ञान का अनुयायी तो-
रहता सब का होकर;
सब जीवों में सुनता है वह-
अपनी आत्मा का स्वर।

उसका इष्ट जहाँ जो होता-
सब में ही वह दिखता;
वही इष्ट हर प्राणी की भी-
भाग्य-रेखा है लिखता।

उसके अपने नहीं कहीं कुछ-
सब परार्थ बन जाते;
सकल सृष्टि के स्पन्दन उसके-
मन में नित्य समाते।

परा शक्ति है यही कि जिसमें-
सब कल्याण निहित है;
सब जीवों में यह पथ उत्तम-
जीवन-मार्ग विहित है।

परा ज्ञान से ही अन्तर की-
दृष्टि सहज खुल पाती;
यही ज्ञान सब जीवों के हित-
मंगल राह दिखाती।

देवों-असुरों और नरों में-
इसी शक्ति के बल पर
होता है उत्कर्ष हृदय में-
परम ज्ञान का भास्वर।

इसकी महिमा की गाथा से-
वेद-पुराण भरे हैं;
इसकी ही आधार शिला पर-
सब अमरत्व खड़े हैं।



परा शक्ति की दात्री केवल-
शुभंकरी है जग में;
उसका ही आलोक प्रकट है-
जीवन के हर मग में।

परा शक्ति की दात्री अम्बे।
जग कल्याण करेगी;
तिमिराच्छन्न जगत को फिर से-
ज्योतिर्मय कर देगी।

उसी शक्ति के आगे हम सब-
अपना शीश झुकाते;
उसके यश का कीर्तन करके-
जीवन सुखद बनाते।

जय माँ कमले। परा शक्ति तू-
हर प्राणी में भर दे;
देव-लोक से भी बढ़कर माँ।
भू को सुन्दर कर दे।

जय-जय माते। विश्व-विलासिनि-
करुणा कण बरसाओ;
अपनी ज्ञान प्रभा फिर अम्बे।
इस धरती पर लाओ।।

बीसवाँ सर्ग

जय जगदम्बे। दृष्टि-दृष्टि में-
तेरी ज्योति बनी है।
अपरा शक्ति रूप में कमले।
शाकंभरी बनी है।

वहिर्जगत जो सजा-धजा है-
तुझ से है प्रतिबिम्बित;
सकल विश्व का तेज निरंजन-
तुझ पर है अवलम्बित।

राजाओं के मुकुट धरा पर-
इसी शक्ति से सजते;
जग के कण-कण तक पर तेरी-
पायल के स्वर वजते।

अखिल सृष्टि में जहाँ-कहीं जो-
सुन्दरता दिख पड़ती;
परम रम्य जो दृश्य कि जिस पर-
आँख सहज ही गड़ती।

वह सव माते। तेरी ही है-
अपरा शक्ति विभासित;
उसी शक्ति से सृष्टि समुज्जवल-
होती सहज प्रकाशित।

जो भी सद्भावों से भर कर-
तेरे सम्मुख आता;
तेरे चरण कमल पर निश्छल-
मन का स्नेह लुटाता।

वही तुम्हारा बनकर जग में-
सब सुख-वैभव पाता;
तेरी अपरा शक्ति-रूप वह-
अनायास पा जाता।

एक शक्ति है परा शक्ति जो-
मुक्ति दायिनी होती;
जनम-जनम के कलुष-पुंज को-
यही शक्ति है धोती।

और दूसरी अपरा है जो-
जग-व्यापार चलाती;
भूतल के हर प्राणी को यह-
शुभ सौभाग्य दिलाती।

इसकी ही माया से प्रेरित-
कर्म शुभाशुभ होते;
इसके वृत्त में पड़कर प्राणी-
पल-पल हँसते-रोते।

हुई प्रसन्न जहाँ तू अम्बे।
भाग्य स्वयं खिल जाते;
भूतल के ऐश्वर्य-सुयश सब-
स्वयं त्वरित मिल जाते।

कोई बिना तुम्हारे बल के-
कर्म न शुभ कर पाता
जीवन में वह आँख मूँद कर-
रहता है पछताता।

तेरी कृपा-कोर जब मिलती-
काम सभी बन जाते;
बिन माँगे ही सब-सुख वैभव-
पास उसी के आते।

जिस पर कृपा तुम्हारी होती-
वही श्रेष्ठ कहलाता;
भीड़ भरी इस दुनिया में वह-
ऊँचा आसन पाता।

वही धरा पर धीर पुरुष बन-
सब का होता नेता;
वसुधा के प्रांगण में बनता-
सब का पुण्य-प्रणेता।

अपरा शक्ति सदा जग-जग कर-
उसको प्रेरित करती;
तू ही माते। उसमें नरता-
की गुणवत्ता भरती।

तेरी अपार शक्ति प्राप्त कर-
सद्-गृहस्थ बन जाता;
स्वार्थ और परमार्थ तत्त्व का-
ज्ञान सहज ही पाता।

तेरे कारण उसके द्वारा-
कर्म धरा का होता;
जीवन की शुभ आकांक्षा का-
होता मुख्य प्रसोता।

जीवन में निस्संग भाव का-
जगना बड़ा कठिन है;
ऐसा जो होता, वह ही तो-
भव से सदा उऋण है।

तेरी अपरा शक्ति मात्र ही-
यह बल भी दे देती;
जिससे नरता देव-भाव की-
समता भी ले लेती।

अम्बे तू ही सब करती है-
तिल का ताड़ बनाती;
उजड़ गयी बगिया में फिर से-
नूतन फूल सजाती।

तेरी ही अनुकम्पा माते।
भू पर सुख बरसाती;
जग की आँखें शक्ति तुम्हारी-
देख नहीं कुछ पाती।

कौन बताए तुम में कैसी
शक्ति अपरिमित अम्बे?
चकाचौंध से दृष्टि मुँदी है-
भव की, माँ जगदम्बे।

जय-जय वारालिका सुनयने।
माँ, भूतल पर आओ;
तड़प रहे हैं वत्स तुम्हारे-
अपना उन्हें बनाओ।।

इक्कीसवाँ सर्ग

भुक्ति-मुक्ति की दात्री। विजया।
विष्णु प्रिया जग-धात्री।
जगन्नियंते। तू माँ अम्बे।
सब सौभाग्य-विधात्री।

सिन्धु-सुता तू दयामयी माँ,
सब पर दया दिखाती;
करूणालय। क्षमा शीला माँ।
दुःख दारिद्र भगाती।

सदा तुम्हारी जय हो माते,
मन-से हम दुहराते;
तेरे पावन चरण-कमल में-
माते। भजन सुनाते।

सृष्टि चराचर तेरी ही है-
मन-रंजन की लीला;
प्रकृति-स्वरूपा तू माँ अम्बे।
रखती इसे सजीला।

  

आज सृष्टि में घोर कलह है-
जन-जन शोर मचाते;
दुख के वृत्त-चक्र में पड़ सब-
घूर्णित ही रह जाते।

कलियुग के घन अन्धकार हैं-
हृदय-हृदय में फैले;
आज विचार हुए जन-जन के-
कुत्सित-मन्द-विषैले।

कंचन-पुंजीभूत जहाँ है-
भ्रष्ट वहाँ सब प्राणी;
कुत्सा-हिंसा और घृणा-वश-
मानव है अभिमानी।

व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेम नहीं है-
जलन-द्वेष है छाया;
आज मनुज धरती पर लगता-
दानव ही बन आया।

सद्-विचार सब लुप्त हुए हैं-
भाव पाप के जागे;
करुण-हृदय की शान्ति विभा को-
रहते हैं सब त्यागे।

अनाचार व्यापार आज है-
स्वार्थ नीति-सी लगती;
हृदय-हृदय में घृणा-द्वेष की-
ज्वाला प्रतिपल जगती।

  

आज तुम्हारी सृष्टि हुई है-
पाप-पंक-तल्लीना;
परा शक्ति से विमुख हुई है-
तुच्छ भाव में लीना।

उसका सब बहिरंग आज है-
जलन-ज्वाल से काला;
सद्-इच्छाओं के दरवाजे-
पड़ा काल का ताला।

इसीलिए तो शुभ्र भावना-
जाग नहीं अब पाती;
क्रिया-हीन हो अन्तर-मन में-
घुट-घुट कर मर जाती।

अर्थ-हीन प्राणी के मन में-
शुभ विचार जब जगता;
क्रिया रूप में सजा न पाता-
रहता मात्र सुलगता।

लुप्त हुई जाती है अम्बे-
अब उदारता-रेखा;
प्रकट सदा रहता है भव में-
कुंठा का अभिलेखा।

यह है घोर तमिस्रा का क्षण-
ज्योतिर्मय माँ; आओ,
सूख रहे जग अन्तर-तरु पर-
प्रेम-वारि बरसाओ।



ऐच्छिक शक्ति जगे शुभकारी-
ऐसी ही दो दीक्षा;
आओ, आओ शुभंकरी माँ-
मत लो कठिन परीक्षा।

ज्ञान शक्ति में उतरो माते-
परा शक्ति सम्भूता;
क्रिया शक्ति में आ तू जननी-
बनकर शुभ्र प्रसूता।

तभी हृदय में जागेगी माँ-
शक्ति-मंगला-तरुणा;
आओ, विश्वविलासिनि। भू पर-
बरसे तेरी करुणा।



जगन्मयी माँ, लोक-मंगले।
सर्वरूप कल्याणी।
तुझे पुकार रहे हैं अम्बे।
भूतल के सब प्राणी।

माँ, अबोध सब बच्चे तेरे-
चीख रहे अब आओ।
भव-जीवन के प्रबल घात से-
अम्बे, इन्हें बचाओ।



आओ माँ। उद्भ्रान्त जगत पर-
शीतलता कुछ लाओ;
अपने आशीर्वचनों से माँ।
शान्त हृदय कर जाओ।।

समाप्त